

# समयांतर

स्थापना वर्ष : 1970  
पुनर्प्रकाशन: अक्टूबर, 1998 से निरंतर

ISSN 2249-0469

संपादक : पंकज बिष्ट

व्यवस्था : ठाकुर प्रसाद चौबे  
व्यवस्था सहयोग : सुशील शर्मा  
टाइपसेट : राधा

## चंदे की दरें

सामान्य : एक वर्ष : रु. 350;

दो वर्ष : रु. 600

तीन वर्ष : रु. 850;

पांच वर्ष : रु. 1350

मित्र : एक वर्ष : रु. 500; दो वर्ष : रु. 800

तीन वर्ष : रु. 1000; पांच वर्ष : रु. 1500

## छात्रों के लिए :

एक वर्ष : रु. 250; दो वर्ष : रु. 350

(प्रमाण पत्र प्रस्तुत करने पर)

संस्थाओं के लिए : एक वर्ष : रु. 500.00

(रजिस्टर्ड डाक से मंगवाने के लिए एक वर्ष के कृपया  
रु. 250 अतिरिक्त भेजें)

## विशेष सहयोग

आजीवन : दस हजार रुपए

दस वर्ष : पांच हजार रुपए

विदेशों में (हवाई डाक से)

एक वर्ष : 25 अमेरिकी डालर

कृपया चंदा मनीऑर्डर अथवा डिमांड ड्राफ्ट से ही  
समयांतर के नाम भेजें। स्थानीय व बहुरिगरीय चेक  
स्वीकार्य हैं।

## बैंकके माध्यम से शुल्क भेजने के लिए

Samayantar Current a/c

No. 27520200000094

IFSC code: BARB0MAYVIH

Bank of Baroda, Mayur Vihar Ph.-I,  
Delhi-110091

कृपया रेमिटेंस की सूचना तत्काल ईमेल अथवा  
एसएमएस से दें।

समयांतर, 79-ए, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110095

फोन : 09868302298 (संपादकीय)

09871403843 (व्यवस्था)

email: samayantar.monthly@gmail.com  
samayantar@yahoo.com

नोट : समयांतर से संबंधित सभी विवादास्पद  
मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।

## इस अंक में

मार्च 2020, वर्ष : 51, अंक : 6

### संपादकीय

5. हिंसा की गतिकी और दिल्ली के दंगे

### पत्र

7. क्यूबा में हेमिंग्वे — भारत भारद्वाज

### विचार

8. आरक्षण और न्यायपालिका — अलख निरंजन

11. दिल्ली में तांडव : बर्बरता और अराजकता की ओर बढ़ता देश — सिद्धार्थ

13. आप की जीत और उम्मीदों का भ्रम — जावेद अनीस

14. दिल्ली हिंसा का सबक — अजय सिंह

15. अपने ही जन के खिलाफ युद्धरत एक राज्य — शैलेश

19. बनारस शहर और बीएचयू का जातिवाद — प्रमोद कुमार बर्णवाल

24. मुक्ता साल्वे और ऐन फ्रैंक — मोहन आर्या

### साक्षात्कार

27. 'राजतंत्र को अंदर ही अंदर कब्जा लिया गया है'

— एजाज अहमद से जिप्सन जॉन और जितीश पी.एम. की बातचीत

### सुबह की सैर

38. प्राइम टाइम का शोर और चीयर-लीडर बनते लोग — राजेश कुमार

### साहित्य और संस्कृति

40. फिल्म और परिवार — विद्यार्थी चटर्जी

42. साहित्य में एक संत — पंकज बिष्ट

45. टेलीविजन धारावाहिकों की स्त्रियां — बेबी विश्वकर्मा

49. साहित्य और नैतिकता के सवाल — धीरेश सैनी

### समीक्षा

47. देश गंवाने के अचूक नुस्खे — महेश मिश्र

आवरण : फ्रांसीसी चित्रकार जेरारद गरुस्ते की एक कृति। गरुस्ते अपने चित्रों की नाटकीयता के लिए  
जाने जाते हैं। उनके चित्रों की प्रदर्शनी दिल्ली के आधुनिक कला संग्रहालय में  
29 मार्च तक देखी जा सकती है।

## घटनाक्रम

वरिष्ठ हिंदी साहित्यकार गिरिराज किशोर (8 जुलाई, 1937-9 फरवरी, 2020) का कानपुर में हृदय गति रुकने से निधन। गिरिराज किशोर हिंदी के प्रसिद्ध उपन्यासकार होने के साथ ही नाटककार और आलोचक भी थे। उनके सम-सामयिक विषयों पर विचारोत्तेजक निबंध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से प्रकाशित होते रहे। उनके उपन्यास *ढाई घर* को 1992 में ही साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। *पहला गिरमिटिया* महात्मा गांधी के अफ्रीका प्रवास पर आधारित उपन्यास है जिसके लिए उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में जाकर शोध किया था। उन्होंने कानपुर विश्वविद्यालय तथा आईआईटी कानपुर में विभिन्न पदों पर काम किया। सन् 2007 में उन्हें पद्मश्री से विभूषित किया गया।

### फार्म-4

प्रेस तथा पुस्तक पंजीयन अधिनियम की धारा 19 डी के अंतर्गत अपेक्षित *समयांतर* पत्रिका से संबंधित स्वामित्व और अन्य बाता. का विवरण:

1. प्रकाशन का स्थान : 79 ए, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110095
2. प्रकाशन की आवृत्तता : मासिक
3. मुद्रक का नाम : पंकज बिष्ट  
क्या भारतीय हैं? : हां  
पता : 79ए, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110095
4. प्रकाशक का नाम : पंकज बिष्ट  
क्या भारतीय नागरिक हैं? : हां  
पता : 79 ए, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110095
5. संपादक का नाम : पंकज बिष्ट  
क्या भारतीय नागरिक हैं? : हां  
पता : 79 ए, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-95
6. उन व्यक्तियों के नाम और पते जो पत्रिका के मालिक और कुल प्रदत्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के हिस्सेदार या भागीदार हैं :  
पंकज बिष्ट  
79ए, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-95

मैं पंकज बिष्ट, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार उपरोक्त विवरण सही हैं।

-पंकज बिष्ट

## सहयोग और समर्थन

*समयांतर* एक गैर व्यावसायिक पत्रिका है जो इस वर्ष अपने अनवरत प्रकाशन के 21वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। हमारे पाठक जानते हैं कि यह सीमित साधनों से प्रकाशित होने वाली पत्रिका है। इस पर भी हमारी सतत कोशिश *समयांतर* की गुणवत्ता में सुधार और प्रसार संख्या में विस्तार की रही है जो डिजिटल मीडिया और हिंदी समाज में लगातार फैल रही वैचारिक संकीर्णता, अबोधिता तथा ठहराव के इस दौर में कठिनतर होता जा रहा है। इस पर भी हमारी उम्मीद और कोशिश में कोई कमी नहीं है। जैसा कि स्पष्ट है हम संस्थागत स्रोतों पर निर्भर नहीं रह सकते। इसकी जगह हमारा प्रयत्न वैकल्पिक स्रोतों से संसाधन जुटाने का रहा है। शुल्क के विभिन्न वर्गों का प्रावधान इस दिशा में एक कदम है।

पर इससे भी बड़ी मदद यह है कि *समयांतर* के विस्तार में भी आपकी भागीदारी हो। यह भागीदारी मात्र *समयांतर* की ही मदद नहीं होगी बल्कि हमें विश्वास है, हिंदी समाज में मुद्रित शब्दों की गरिमा और महत्त्व को भी बढ़ाने में, छोटे पैमाने पर ही सही, पर सक्रिय सहयोग साबित होगा।

आपके सहयोग का एक तरीका संभावित पाठकों के पते देने का भी है जिन्हें हम नमूना प्रति भेजेंगे। अपने शहर के विक्रेताओं से संपर्क करने में भी आप मदद कर सकते हैं। हमें विश्वास है *समयांतर* के सहृदय पाठक, सामर्थ्य अनुसार अपना सहयोग अवश्य प्रदान करेंगे। - व्यवस्थापक

उनके कहानी संग्रहों में *नीम के फूल*, *चार मोती बेआब*, *पेपरवेट*, *रिश्ता और अन्य कहानियां*, *शहर-दर-शहर*, *हम प्यार कर लें*, *जगत्तारनी एवं अन्य कहानियां*, *वल्द*, *रोजी*, *और यह देह किसकी है?* आदि हैं। *लोग*, *चिड़ियाघर*, *दो*, *इंद्र सुनें*, *दावेदार*, *तीसरी सत्ता*, *यथा प्रस्तावित*, *परिशिष्ट*, *असलाह*, *अंतर्ध्वंस*, *ढाई घर* तथा *यातनाघर* उनके उपन्यास हैं।

### लखनऊ में *समयांतर*

#### जनचेतना

डी-68, निराला नगर,

लखनऊ-226020

## हिंसा की गतिकी और दिल्ली के ढंगे

**फ**रवरी के अंतिम सप्ताह में दिल्ली में जो हुआ वह किसी तरह से अप्रत्याशित नहीं कहा जा सकता। अगर किसी रूप में वह अप्रत्याशित था तो सिर्फ अपने 'समय' के लिए। वैसे भी फरवरी दिल्ली के लिए खासा घटनाओं से भरा महीना साबित हुआ है। केंद्र में तथाकथित भाजपाई चाणक्य के अलावा धनुर्धर मोदी की भी छत्रछाया थी, जिन्होंने कुछ ही महीने पहले फिर से केंद्रीय सरकार की कमान संभाली थी और इस बीच एक के बाद एक कई राज्यों में हुई हार के बावजूद, जिसने मोदी और भाजपा के कथित जादू के खुमार को थोड़ा ठंडा कर दिया था, मोदी ने पिछली बार से ज्यादा सीटें हासिल की थीं। पर दिल्ली राजधानी थी और उसका नियंत्रण प्रतिष्ठा का सवाल था। वैसे भी आम आदमी पार्टी (आप) महाबली भाजपा के आगे क्या थी? एक छोटा-मोटा कृतक प्राणी, जिसने एक घुड़की में इधर-उधर कहीं बिल में घुस जाना था। पर नतीजा क्या हुआ? चैपलिन की किसी मूक फिल्म की तरह एक सीखची गिट्टक से आदमी ने इस महाबली को ऐसा दांव मारा कि वह चारों खाने चित हो गया।

यह अमित शाह की नहीं बल्कि वास्तव में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की हार है, जिनकी सहमति के बिना सरकार ही नहीं बल्कि पार्टी में भी पत्ता तक नहीं हिलता। दूसरे शब्दों में वर्तमान सरकार की लगभग हर नीति के लिए सिर्फ वही जिम्मेदार हैं। यह किसी से छिपा भी नहीं है कि वर्तमान सरकार किसी भी रूप में सामूहिक नेतृत्व का उदाहरण पेश नहीं करती है। चूंकि हर सफलता का सेहरा - सर्जिकल स्ट्राइक से लेकर पुलवामा और 370 तक का - उनकी पगड़ी, जिसका मोदी चुन हुए अवसरों पर ही इस्तेमाल करते हैं, में बंधता है तो फिर असफलता ने कहाँ जाना चाहिए? इसलिए अगर अभी नहीं आया है तो भी जल्दी ही, भाजपा ही नहीं बल्कि संघ की भी समझ में आ जाएगा कि यह कोई बहुत स्वस्थ स्थिति नहीं है। यों भी कि संसद की इस पाली के खत्म होते न होते उनके सिर इतनी जवाबदेही हो जाएगी कि वह दीनदयाल उपाध्याय मार्ग दिल्ली से लेकर नागपुर तक के लिए बोझ बन जाएंगे। अपने पिछले कार्यकाल में उन्होंने तात्कालिक राजनीतिक लाभ के चक्कर में नोटबंदी जैसी जो गलती की और जिसे जीएसटी के त्रुटिपूर्ण कार्यान्वयन ने ऐसा घातक बना दिया कि देश की अर्थव्यवस्था आज भी उससे लड़खड़ा रही है। उधर दुनिया भर में नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के कारण आई मंदी के कारण जगह-जगह जो आर्थिक नाकेबंदी शुरू हुई है उसने सोने में सुहागे का काम किया है। स्पष्ट है कि बढ़ती बेरोजगारी और सरकारी नौकरियों के सिमटते जाने ने मंदी को और बढ़ा दिया है। ऐसे कोई आसार नहीं हैं कि निकट भविष्य में स्थितियों में सुधार हो जाएगा।

**मोदी सरकार की असफलता के दूरगामी परिणाम लाजमी हैं। ये असफलताएं निजी असफलता नहीं हैं। निजी रूप से तो वह सफल आदमी हैं। उनकी असफलता उनके राजनीतिक कौशल और दृष्टि की है और इससे दिक्कत देश और समाज को है।**

एक बहुत ही चलताऊ अंग्रेजी कहावत है, 'ए मैन इज नोन बाई द कंपनी ही कीप्स'। यानी आदमी अपने संगियों (संधियों नहीं) के कारण जाना जाता है। मोदी की लोकप्रियता चाहे जो हो बुद्धिजीवियों से उनका छत्तीस का आंकड़ा है। वह बुद्धिजीवियों से मिलना तौहीन समझते हैं क्योंकि बुद्धिजीवियों पर उनकी लोकप्रियता का आतंक नहीं चलता। इसका कारण चाहे जो हो, नतीजा सामने है। उनके साथ किसी भी क्षेत्र की उत्कृष्टतम प्रतिभा जुड़ी हुई नहीं है। हालत यह है कि रघुराम राजन और उर्जित पटेल जैसे मध्यमार्गी विशेषज्ञों तक ने उनके साथ रहने से की जगह स्कूल-कॉलेजों में सर छिपाना बेहतर समझा।

इस स्तंभ में यह एक बार फिर दोहराया जा रहा है कि भारत एक विशाल देश है। मोदी का अनुभव क्षेत्र सिर्फ गुजरात तक सीमित रहा है। और गुजरात उत्तर प्रदेश के भी तीसरे हिस्से के बराबर है। नतीजा यह है कि उन्हें कहीं से भी सही या कम से कम सटीक सलाह नहीं मिलती। आज की दुनिया कई गुना जटिल है। कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* से आप आज के न तो अपने समाज और न ही दूसरों के समाज को समझ सकते हैं। यह तथ्य आत्महीनता से ग्रस्त आम हिंदू को भरमाने और चुनाव जीतने के लिए मुफीद हो सकते हैं पर हैं अर्थहीन। यह अचानक नहीं है कि अमेरिका और ब्रिटेन की प्रगति का एक बड़ा कारण वहां विश्व की हर तरह की प्रतिभा का स्वागत किया जाना है। कम से कम अमेरिका तो आज तक वही कर रहा है और हम हैं कि लोगों को सिर्फ नागरिकता के कानूनी आधार पर बाहर कर देना चाहते हैं। खैर ये सब लंबी बातें हैं। असली बात यह है कि केंद्र की मोदी सरकार के ऐन नाक के नीचे पैसा, कार्यकर्ता और भुजबल की इफरात के

बावजूद दिल्ली में भाजपा धूल धूसरित हो गई। तो क्या यह केंद्र की सरकार पर बट्टा नहीं है? असल में दिक्कत यह है कि मोदी सरकार की असफलता के दूरगामी परिणाम होना लाजमी हैं। ये असफलताएं उनकी निजी असफलता नहीं हैं। निजी रूप से तो वह एक सफल आदमी हैं। हों भी क्यों नहीं, आखिर कितने चायवाले के बच्चे प्रधानमंत्री पद पर पहुंचते हैं। पर उनकी असफलता उनके राजनीतिक कौशल और दूरदृष्टि की है और इससे दिक्कत देश और समाज को है।

इसलिए दिल्ली में जो हुआ है वह पानी के नाक से भी ऊपर पहुंच जाने का प्रमाण है। इसमें शक नहीं है कि नरेंद्र मोदी के उत्थान में गुजरात के दंगों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और अक्सर ही सांप्रदायिक दंगे भाजपा के लिए लाभप्रद साबित होते हैं। पर इस सब के बावजूद ऐसे समय जब दुनिया के सबसे ताकतवर देश का राष्ट्रपति शहर में हो इस पैमाने पर दंगा होना कि जिसमें चालीस के करीब लोग मारे जाएं, कोई सहज बात नहीं है। इसलिए यह भी अचानक नहीं है कि दुनिया के मीडिया, उस पर भी विशेषकर अमेरिकी मीडिया में, भारत में ट्रंप की यात्रा की उपलब्धियां तो दब गई पर दिल्ली के दंगों में सरकार की असफलता प्रबल तरीके से सामने आई। मोदी की अमेरिका में छवि मजबूत करने की मंशा दबी की दबी रह गई। लोग मोटेरा की सवा लाख की ट्रंप की जयजयकार करती भीड़ कहीं पृष्ठभूमि में चली गई और जो संदेश अमेरिका सहित सारी दुनिया में पहुंचा वह था मोदी सरकारी प्रशासनिक असफलता और सांप्रदायिक झुकाव का जिसे उनके दल के छुटभईयों ने उघाड़ने में कसर नहीं छोड़ी। वैसे भी अगर देश की राजधानी में तीन दिन तक अहर्निश दंगे चलते रहें, हजारों करोड़ की संपत्ति आग की भेंट चढ़ जाए, सैकड़ों लोग घायल हों और 50 के करीब लोग मारे जाएं तो यह सब क्या कहलाएगा?

वैसे भी यह तब हो रहा है, जबकि पुलिस व्यवस्था केंद्र के हाथ में है। पर हमें भूलना नहीं चाहिए कि चाहे जितनी भी बारूद

बिछी हो उसे पलीता लगाने का काम भाजपा नेताओं ने ही किया है। आप से ऐन चुनाव से पहले भाजपा में गए और चुनाव हारे हुए कपिल मिश्रा ही नहीं बल्कि केंद्रीय मंत्री अनुराग ठाकुर और सांसद प्रवेश वर्मा के गालियों से लैस बंदूक चलाने के अह्वान निंदनीय ही नहीं अपराधिक भी थे। आखिर प्रधानमंत्री और भाजपा अध्यक्ष चुप क्यों हैं? गलती स्वीकार न करने का रवैया अव्यवहारिक ही नहीं बल्कि गैर लोकतांत्रिक और अपराधिक भी है।

दूसरे शब्दों में पिछले दो महीने से दिल्ली में लगातार सांप्रदायिक शब्दावली में आरोप प्रत्यारोपों का जो आदन-प्रदान हो रहा था, वह सबके सामने था। भाजपा के शीर्ष नेताओं ने इसे रोकने की जरा भी कोशिश नहीं की। सांप्रदायिकता को कार्य में परिणित करने वाले तथाकथित नेता लोग नहीं होते। उसे कार्यरूप में परिणित करने वाले कोई और होते हैं। अपनी हार से बिलबिलाए मिश्रा ने दो बार उस इलाके में जाकर जिस तरह की आक्रामक और भड़काऊ भाषा का प्रयोग किया उसके बाद और क्या होना था!

दिल्ली उच्च न्यायालय के न्यायाधीश, जिनका रातों-रात तबादला कर दिया गया है, का यह सवाल वाजिब था कि आखिर पुलिस ने इतने दिन से इन कथित नेताओं के खिलाफ कार्रवाई क्यों नहीं की?

अब पुलिस की बात करते हैं। 27 फरवरी के *इंडियन एक्सप्रेस* में दीपांकर घोष की 'वायोलेंस इज डाउन, कॉप प्रेजेंस अप: 'ऊपर से ऑर्डर आ गया' शीर्षक रिपोर्ट ध्यान देने लायक है। रिपोर्ट के अनुसार जब संवाददाता ने गोकुलपुरी के एक सिपाही से पूछा कि आखिर रातों-रात क्या हो गया है? तो उसका सीधा-सा उत्तर था: "ऊपर से आर्डर आ गया रात को। अब सब शांत है।"

क्या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश महोदय के सवाल का जवाब इसी से नहीं जुड़ा है? सच भी यह है कि दिल्ली में पुलिस जो केंद्र के अंतर्गत है वह पिछले छह वर्षों से इसी तरह का व्यवहार कर रही है। इसी माह

महिलाओं के एक कॉलेज में जब शोहदों ने धावा बोला और बदतमीजियां कीं तो पुलिस ने उनके खिलाफ तब तक कार्रवाई नहीं की जब तक 'ऊपर से ऑर्डर' नहीं आ गया। इससे पहले इसी महीने जनेवि में या जामिया में जो हुआ उसको लेकर अब तक कुछ नहीं हुआ है। क्यों? स्पष्ट है कि 'ऊपर से आदेश' नहीं आया। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान केंद्रीय सरकार ने पुलिस को कानून और व्यवस्था बनाए रखने वाली एक एजेंसी की जगह अपना निजी चाकर बना लिया है। उसकी स्वायत्तता खत्म कर दी गई है और वह एक संवेदना विहीन मशीन में बदल गई है। स्वायत्तता विहीन संस्थाएं अपने उर्जा और स्वस्फूर्तता खो देती हैं। आज की दिल्ली पुलिस उसका उदाहरण है।

इसके बाद यह अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है कि यमुनापार में तीन दिन तक जो होता रहा वह क्यों हुआ। निश्चय ही वहां बाहर के दंगाई पहुंचे थे और यह भी स्वयं सिद्ध है कि अगर वे भाजपा की ओर से भेजे नहीं गए थे तो भी इस दल के समर्थक थे और भाजपा के नेताओं के पहले से ही दिए जा रहे गैरजिम्मेदाराना और भड़काऊ भाषणों से प्रेरित तो थे ही। दूसरी ओर दूसरे पक्ष का उतना ही उग्र वर्ग इस तरह की किसी भी स्थिति के लिए तैयार था। पुलिस चूंकि पिछले छह वर्षों में 'ऑर्डर' के इंतजार में रहने की आदी हो चुकी है, उसे समझ ही नहीं आया, कब क्या करना चाहिए।

पूर्वी दिल्ली की घटनाएं इस नगर राज्य के प्रशासनिक ढांचे को भी लेकर गंभीर प्रश्न उठाती हैं। स्पष्ट है कि यहां की कानून व्यवस्था चूंकि केंद्र के पास है और उसकी अपनी जिम्मेदारियां हैं, जो ज्यादा अहम हैं इसलिए वह इस छोटे से राज्य की ओर समुचित ध्यान नहीं दे पाता। इसका एक सबक यह है कि दिल्ली में कानून-व्यवस्था को राज्य सरकार को सौंपी जाए और सिर्फ उस क्षेत्र की सुरक्षा व्यवस्था केंद्र के पास रहे जहां सरकार और उसके कार्यालय स्थित हैं।

राष्ट्रीय नेतृत्व का दीवालियापन यह है

## क्यूबा में हेमिंग्वे

शैलेंद्र चौहान का क्यूबा का यात्रा वृतांत ( *समयांतर*, सितंबर, 2019) दिलचस्प और ज्ञानवर्द्धक है खासकर क्यूबा के स्वाधीनता आंदोलन के संदर्भ में।

2007 में साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली की ओर से लेखकों का एक शिष्टमंडल, 10 दिनों ( 10-17 जून, 2007) की यात्रा पर सांस्कृतिक आदान-प्रदान कार्यक्रम के अंतर्गत-क्यूबा गया था। हम पांच लोग लंदन से वर्जिन अटलांटिक बी.एस-63 एयरलाइंस की उड़ान से क्यूबा के जोसे मार्ती (क्यूबा के प्रसिद्ध कवि) अंतरराष्ट्रीय हवाईअड्डा, हवाना पहुंचे थे। हम होटल पाल्को में ठहरे थे। अपने प्रवास के दौरान यह देखकर मुझे हैरानी हुई कि क्यूबा में हर जगह 'चे' (ग्वेरा) हैं। 'चे' के प्रति क्यूबा राष्ट्र की कृतज्ञता देखकर सचमुच मैं चकित था। अपने देश में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी को हम किस रूप में याद कर रहे हैं, कहने की जरूरत नहीं। आज हमारी लोक संस्कृति में गांधी के नाम पर एक वीभत्स और विद्रूप मुहावरा प्रचलित है - 'मजबूरी का नाम गांधी।'

शैलेंद्र जी ने अपने यात्रा-वृतांत में लिखा है कि हेमिंग्वे क्यूबा में बस गए थे और बंदूक साफ करते अचानक गोली चलने से उनकी मृत्यु हुई। ये दोनों बातें तथ्यात्मक रूप से गलत हैं। क्यूबा की राजधानी हवाना के बाहरी क्षेत्र में एक जगह है फिका बिगिया। वहां हेमिंग्वे का निवास था, जहां वह अस्थायी तौर से रहते थे लेकिन बीच-बीच में अमेरिका आते-जाते थे। अपना प्रसिद्ध उपन्यास *द ओल्डमैन एंड द सी'* का आरंभ बेशक उन्होंने क्यूबा में किया था। लेकिन इसे पूरा किया अमेरिका में। इस उपन्यास पर 1959 में साहित्य का नोबेल पुरस्कार मिला था।

वहां प्रवास के दौरान ओम थानवी ने मुझ बतलाया था कि इस उपन्यास का मुख्य पात्र संटयागो एक जीवित पात्र था क्यूबा का, जिसकी मृत्यु कुछ वर्षों पूर्व हुई थी। एक और

बात, हेमिंग्वे ने एक क्यूबाई महिला से शादी की थी। इस महिला ने उनकी मृत्यु के बाद उनके निवास को क्यूबा सरकार को सौंप दिया, जिसे सरकार ने संग्रहालय में बदल दिया है। यहां हेमिंग्वे द्वारा व्यवहार में लाई गई तमाम वस्तुएं संभालकर रखी गई हैं, उनका टाइपराइटर, उनकी पुस्तकें, उनका बिस्तर आदि। मुझे यह देखकर एक साथ हैरानी और प्रसन्नता हुई कि इस निवास में किचन छोड़कर हर जगह पुस्तकें हैं, यहां तक कि बाथरूम में भी। आलमारी में रखी पुस्तकें छूने के निषेध के बावजूद मैंने एक आलमारी में रखी पुस्तकों में से लगभग पचास पुस्तकों के नाम नोट किए थे जिसमें अमेरिकी कवयित्री एमिली डिंकसन, कवि वॉल्ट व्हिटमैन के संग्रह, *वार एंड पीस* (तोल्सतोय) के साथ एक पुस्तक थी *लाइफ ऑफ ए फिशरमैन*। हेमिंग्वे की रुचि मछली मारने में थी और उन्होंने एक फिशिंग टूर्नामेंट में क्यूबा के सर्वेसर्वा फिडेल कास्ट्रो रूज को हराया था।

हेमिंग्वे की मृत्यु बंदूक से एक्सीडेंटल फायर (गलती से गोली चलने) से नहीं हुई थी। उन्होंने 1961 में राइफल से आत्महत्या की थी, यह बात साहित्य-समाज को मालूम है। यही नहीं, उन्होंने 'हप्तों' इसके लिए प्रेक्टिस की थी। जब उन्हें आत्मविश्वास हो गया, गले के नीचे राइफल रखकर उन्होंने पांच की उंगली से राइफल का ट्रिगर दबा दिया।

क्यूबा-प्रवास के दौरान हमने जोसे मार्ती का मेमोरियल म्यूजियम देखा और क्यूबा के प्रसिद्ध कवि राबर्टो फर्नांडिज रेटामर से मिले उन्होंने तभी प्रकाशित कविता संग्रह 'व्हेयर इस फर्नांडिस एंड अदर पोएम्स' की प्रति भेंट की। वियतनाम से संबंधित इस संग्रह की पांच कविताओं का अनुवाद मैंने होटल पाल्को के कमरा न. 320 में वहीं किया। अब मेरे द्वारा अनूदित यह संग्रह लगभग छपकर तैयार है। इस कवि के बारे में पहली बार मैंने मैनेजर पांडेय की पुस्तक 'संकट के बावजूद' में पढ़ा था, शायद उनका साक्षात्कार था। अंत में क्यूबा प्रवास के अनुभव शिष्टमंडल के सदस्यों के लिए सुखद और अविस्मरणीय रहे। ■

- भारत भारद्वाज, नोएडा

कि दंगाग्रस्त क्षेत्र में केंद्रीय प्रतिनिधि के रूप में जनता को आश्वस्त करने कोई केंद्रीय मंत्री नहीं गया बल्कि राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार को भेजा गया जिसका काम मूलतः विदेशी सुरक्षा से संबंधित है। आखिर गृहमंत्री या प्रधानमंत्री क्यों नहीं गए? केंद्रीय सरकार के मुख्यालय से 10 किमी की दूरी पर इतने जबरदस्त दंगे हुए जो तीन दिन चलते रहे जिसमें लगभग 50 लोग मारे गए हजारों लोग घायल हुए, क्या यह छोटी बात है? प्रधानमंत्री लिट्टी चोखा खाने दिल्ली हाट जा सकते हैं पर लाखों की संख्या में पीड़ित जनता को आश्वासन देने नहीं जा सकते? चलो गृहमंत्री ही चले जाते आखिर यह उनके विभाग का मसला था, वह क्या कर रहे हैं?

इसे कैसे समझा और देखा जाए? क्या यह किसी डर की वजह से हो रहा है या फिर यह किसी बड़ी राजनीतिक घटना का पूर्व संकेत है? अथवा जनता को डराने के लिए एक ऐसे व्यक्ति को भेजा गया जो जीवन भर पुलिस अधिकारी रहा है।

भाजपा को और उसकी केंद्र की सरकार को यह नहीं भूलना चाहिए कि दिल्ली में हिंसा की ऐसी घटनाएं 36 साल बाद लौटी हैं। ये अचानक नहीं आईं। ये बरास्ता हापुड़, जयपुर और मुजफ्फरनगर आई हैं। *इंडियन एक्सप्रेस* के 27 तारीख के संपादकीय में लिखा है: "जैसा कि नजर आता है देश भर में सीएए विरोधी आंदोलन पूरी तरह से कानूनी दायरे में और शांतिपूर्ण हैं, दिल्ली में मई में मोदी सरकार की वापसी के बाद के आठ महीनों में मरने वालों की संख्या 50 से ऊपर पहुंच गई है (नवीनतम आंकड़ों के हिसाब से अब यह 75 होनी चाहिए - सं.) और यह कई गंभीर सवाल उठाती है जिन पर तत्काल ध्यान दिया जाना चाहिए।"

हिंसा का गतिविज्ञान यह है कि अगर इसे जल्दी नहीं रोका गया तो फिर इसे नियंत्रित करना मुश्किल हो जाता है। विगत छह वर्षों के शासन में भाजपा ने बबूल को खूब पनपने दिया है। हिंसा और अराजकता भस्मासुर हैं वे हर हालत में लौट कर अपने जनक के पास आते हैं। ■

## आरक्षण और न्यायपालिका

अलख निरंजन

*पिछले सत्तर वर्षों में न्यायालयों ने ऐसे बहुत सारे निर्णय दिए हैं जिससे स्पष्ट होता है कि भारतीय न्यायालय दलितों, पिछड़ों और आदिवासियों को मनुस्मृति की दृष्टि से देखते हैं न कि भारतीय संविधान की दृष्टि से। इतना ही नहीं, इन निर्णयों में उल-जुलूल तर्क देकर न्यायालय सवर्ण जातियों के पक्ष में खड़े हो जाते हैं।*

बाबासाहेब आंबेडकर ने 16 मई 1951 को संसद में पहला संविधान संशोधन बिल प्रस्तुत करते समय सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि माननीय न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 29 की धारा-2 में प्रयुक्त शब्द 'केवल' के अर्थ को उस रूप में नहीं लिया गया जिस रूप में वह संविधान में प्रयुक्त किया गया है। 'केवल' शब्द को महत्वहीन समझा गया है जबकि इस वाक्य में 'केवल' शब्द का अर्थ बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह अवसर था, बहुचर्चित वाद, मद्रास स्टेट बनाम चम्पाकम दुरई राजन और वेंकटमन बनाम स्टेट में सुप्रीम कोर्ट द्वारा सुनाए गए निर्णय को शून्य घोषित करने के लिए किए जा रहे संविधान संशोधन पर बहस का। इस निर्णय में सुप्रीम कोर्ट ने मद्रास सरकार द्वारा शिक्षण-संस्थाओं में अनुसूचित जाति/जनजाति और अन्य पिछड़े वर्ग के अभ्यर्थियों के लिए सीटें आरक्षित करने के निर्णय को संविधान में प्रदत्त अधिकार 'अवसर की समता' के खिलाफ घोषित कर दिया था। प्रथम संविधान संशोधन द्वारा शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश में आरक्षण के अधिकार को संरक्षित किया गया। तब से अब तक भारतीय लोकतंत्र एवं संविधान ने बहुत उतार-चढ़ाव देखा, बहुत परिवर्तन हुआ, बहुत सारी धारणाएं बदलीं, लेकिन यदि कुछ नहीं बदला तो वह है दलितों, आदिवासियों एवं पिछड़े वर्गों के प्रति भारतीय न्यायपालिका का दृष्टिकोण। पिछले सत्तर

वर्षों में न्यायालयों ने ऐसे बहुत सारे निर्णय दिए हैं जिससे स्पष्ट होता है कि भारतीय न्यायालय दलितों, पिछड़ों और आदिवासियों को मनुस्मृति की दृष्टि से देखते हैं न कि भारतीय संविधान की दृष्टि से। इतना ही नहीं, इन निर्णयों में उल-जुलूल तर्क देकर न्यायालय सवर्ण जातियों के पक्ष में खड़े हो जाते हैं। जैसे राजस्थान की भंवरी देवी के स में उच्च न्यायालय का यह तर्क कि अभियुक्त सवर्ण हैं, जो दलितों को छूते तक नहीं, तो वे अछूत महिला का बलात्कार कैसे कर सकते हैं। बथानी टोला नरसंहार के अभियुक्तों को उच्च न्यायालय ने इसलिए छोड़ दिया कि एफआईआर 24 घंटे के बाद दर्ज कराई गई। दलितों, पिछड़ों एवं आदिवासियों को सरकारी सेवाओं में आरक्षण तो सदैव न्यायपालिका की आंख का किरकिरी रहा है। चम्पाकम दुरई राजन केस से लेकर नवीनतम मुकेश कुमार बनाम उत्तराखंड सरकार के केस में, दिनांक सात फरवरी, 2020 के सुप्रीम कोर्ट के निर्णय में भी न्यायपालिका उल-जुलूल तर्क के साथ सवर्ण जातियों के अधिकारों की संरक्षक की भूमिका में खड़ी है।

सिविल अपील संख्या 1226/2020, मुकेश कुमार और अन्य बनाम उत्तराखंड सरकार के केस में सुप्रीम कोर्ट के दो न्यायाधीशों एल. नागेश्वर राव एवं हेमंत गुप्ता ने सात फरवरी, 2020 को निर्णय दिया। इस निर्णय में सुप्रीम कोर्ट ने अपने पूर्व के निर्णयों

(अजित सिंह II बनाम स्टेट आफ पंजाब (1999) 7 एसएससी 209) एवं सी.ए. राजेंद्रन बनाम यूनियन आफ इंडिया, (1968) 1 एससीआर 721 को आधार मानकर कहा है कि नौकरियों में नियुक्ति या पदोन्नति में आरक्षण का दावा करना अनुसूचित जाति/जनजाति का मूल अधिकार नहीं है। साथ ही यह भी कहा कि अनुच्छेद 16(4) और 16(4-ए) के अंतर्गत नौकरियों में नियुक्ति या पदोन्नति में अनुसूचित में जाति/जनजाति के लिए आरक्षण का प्रावधान करना राज्य की बाध्यता नहीं है। यह एक सक्षम बनाने वाला प्रावधान है।

आइए, अब संवैधानिक अनुच्छेदों के आलोक में इस निर्णय का परीक्षण करें। भारत के संविधान का भाग-3 (मूल अधिकार) का अनुच्छेद-32 जिसको संविधान के मुख्य शिल्पकार तथा अपने समय के शीर्षस्थ कानूनविद बाबासाहेब आंबेडकर ने संविधान की आत्मा तथा हृदय कहा था, को यहाँ उल्लिखित करना आवश्यक है।

### सांविधानिक उपचारों का अधिकार

अनुच्छेद 32, इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए उपचार-

(1) इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए समुचित कार्यवाहियों द्वारा उच्चतम न्यायालय में समावेदन करने का अधिकार प्रत्याभूत किया जाता है।

(2) इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों में से किसी को प्रवर्तित कराने के लिए उच्चतम न्यायालय को ऐसे निर्देश या आदेश या रिट, जिनके अंतर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण रिट हैं, जो भी समुचित हो, निकालने की शक्ति होगी।

(3) उच्चतम न्यायालय को खंड (1) और खंड (2) द्वारा प्रदत्त शक्तियों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना संसद, उच्चतम न्यायालय द्वारा खंड (2) के अधीन प्रयोक्तव्य किन्हीं या सभी शक्तियों का किसी अन्य न्यायालय को अपनी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर प्रयोग करने के लिए विधि द्वारा सशक्त कर सकेगी।

(4) इस संविधान द्वारा अन्यथा उपबंधित के सिवाय, इस अनुच्छेद द्वारा प्रत्याभूत अधिकार निर्लंबित नहीं किया जाएगा।

संविधान का अनुच्छेद-32 कहता है कि भाग-3 (मूल अधिकार) जिसमें अनुच्छेद 12 से लेकर 35 तक आते हैं, उनको लागू कराने के लिए सुप्रीम कोर्ट में जाने का अधिकार प्रत्याभूत है और सुप्रीम कोर्ट को परमादेश जारी करने का अधिकार है लेकिन सुप्रीम कोर्ट कह रहा है कि न्यायपालिका 'राज्य' को इन कानूनों को प्रवर्तित करने के लिए कोई परमादेश जारी नहीं कर सकती। संविधान में अनुच्छेद 16(4) एवं 16(4-ए) मूल अधिकार का हिस्सा है लेकिन न्यायपालिका कह रही है कि यह मूल अधिकार नहीं है। अर्थात् सर्वोच्च न्यायालय का यह निर्णय संविधान के अनुच्छेद 32 की मूलभावना के खिलाफ है। डॉ. आंबेडकर ने 16 मई, 1951 को पूर्व में उल्लिखित केस में कहा था कि माननीय न्यायाधीश ने संविधान के प्रावधानों को उस अर्थ में नहीं समझा जिस अर्थ में वे संविधान में वर्णित हैं। आज, 70 वर्ष बाद अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि न्यायाधीश संविधान के उन प्रावधानों को, जिसमें दलितों, आदिवासियों एवं पिछड़े वर्गों के अधिकारों को प्रत्याभूत किया गया है, जान बूझकर उस अर्थ में व्याख्यायित नहीं करते हैं जिस अर्थ में वे संविधान में वर्णित हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि 16 मई, 1951 को संसद में डॉ. आंबेडकर यह भी कहते हैं कि नीति निर्देशक सिद्धांतों का अनुच्छेद 46 को लागू करना भी सरकार के लिए बाध्यकारी है। लेकिन इस निर्णय में सुप्रीम कोर्ट कह रहा है कि 16(4) और 16(4-ए) ही बाध्यकारी नहीं है। जो डॉ. आंबेडकर की सोच के विरुद्ध है। इस संदर्भ में कुछ बुद्धिजीवी कह रहे हैं कि सुप्रीम कोर्ट की व्याख्या तकनीकी रूप से ठीक है क्योंकि संविधान में अन्य अधिकारों जैसे 'समता का अधिकार' या 'स्वतंत्रता का अधिकार' की तरह 'आरक्षण का अधिकार' नहीं वर्णित है। यहां यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि अस्पृश्यता निवारण संबंधी अनुच्छेद-17 की शब्दावली भी 'समता का अधिकार' या 'स्वतंत्रता का अधिकार' जैसी

नहीं है। लेकिन यह अनुच्छेद मूल अधिकार का हिस्सा है। इसलिए शब्दावली का कोई अन्यथा अर्थ नहीं है। संविधान का भाग-3 मूल अधिकार है, इनमें वर्णित सभी बिंदु निर्विवाद रूप से नागरिकों के मूल अधिकारों से संबंधित हैं एवं 'राज्य' के लिए बाध्यकारी हैं। इस भाग की इसके अतिरिक्त कोई अन्य व्याख्या करना संविधान की मूल भावना के विरुद्ध है।

सरकारी नौकरियों और पदोन्नति में आरक्षण दलितों, आदिवासियों एवं पिछड़े वर्गों का मूल अधिकार है या नहीं, इसको स्पष्ट करने के लिए आरक्षण की अवधारणा को भी समझना होगा। आधुनिक भारत का संवैधानिक विकास अंग्रेजों के आगमन से प्रारंभ होता है। ईस्ट इंडिया कंपनी के अधीन राज्यों में 1813 में सभी स्त्री-पुरुषों के लिए समान शिक्षा का कानून लागू किया गया। इसी प्रकार कंपनी राज के अधीन प्रशासनिक नौकरियों में भी सभी जाति धर्म के व्यक्तियों को समान अवसर देने का कानून 1833 में लागू किया गया। लेकिन 1884 तक एक भी अछूत समुदाय का व्यक्ति स्नातक की कक्षा में प्रवेश नहीं पा सका था तथा 1894 तक एक भी अछूत समुदाय का व्यक्ति सरकारी सेवा में अधिकारी नहीं बन पाया था। इसका कारण यह नहीं था कि अछूतों में क्षमता-योग्यता की कमी या ज्ञानार्जन के लिए इच्छा का अभाव था। इसका कारण था ब्राह्मणों द्वारा अछूतों को शिक्षा प्राप्त करने से रोकना। सभी जाति-धर्मों के लिए शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर उपलब्ध होने के बावजूद भी ब्राह्मणों द्वारा अछूतों एवं पिछड़ों को शिक्षा प्राप्त करने से रोका जाता था। सरकारी विद्यालयों में अछूतों को प्रवेश देने पर ब्राह्मण उग्र विरोध करते थे तथा अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों से निकाल लेते थे। इसीलिए महात्मा जोतिराव फुले ने अछूतों के लिए अलग से विद्यालय खोला। शिक्षा न प्राप्त कर पाने के कारण सरकारी नौकरियों में अछूत नहीं पहुंच पा रहे थे। महात्मा फुले ने 1882 में ब्रिटिश सरकार के समक्ष एक ज्ञापन दिया तथा अछूतों एवं पिछड़ों को सरकारी नौकरियों में अवसर उपलब्ध कराने की मांग की। उन्होंने तर्क दिया कि यदि अछूतों एवं शूद्रों

को पढ़ने के लिए विशेष अवसर प्रदान नहीं किया गया तो सरकारी नौकरियों में केवल ब्राह्मण जाति के लोग भर जाएंगे और यदि ऐसा हुआ तो ब्रिटिश सरकार, जो भारत में लोकतंत्र स्थापित करना चाहती है, के सपनों पर पानी फिर जाएगा। भारत में लोकतंत्र के स्थान पर ब्राह्मणराज स्थापित हो जाएगा। हालांकि ब्रिटिश सरकार ने तत्काल इस पर कोई कानून नहीं बनाया लेकिन छत्रपति शाहूजी महाराज ने अपने राज्य की नौकरियों में 1902 में पिछड़े एवं अछूत समुदायों के लिए 50 प्रतिशत आरक्षण लागू कर दिया। इसके बाद 1909 में मद्रास प्रेसीडेंसी में भी पिछड़े एवं अछूत समुदायों के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण लागू किया गया। इस ऐतिहासिक घटनाक्रम से स्पष्ट हो जाता है कि नौकरियों में आरक्षण नीति इसलिए लागू की गई कि सरकारी नौकरियों में ब्राह्मणों की संख्या को सीमित किया जा सके। क्योंकि सरकारी नौकरियों में ब्राह्मणों की अधिकता लोकतंत्र की अवधारणा के विरुद्ध है। अर्थात् भारत के संदर्भ में आरक्षण नीति, लोकतंत्रात्मक शासन प्रणाली का प्रमुख तत्व है। यदि प्रशासन में किसी एक जाति का आधिपत्य स्थापित हो तो ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था को लोकतंत्रात्मक नहीं कहा जा सकता है। भारत के संदर्भ में यदि सरकार की नौकरियों में सभी स्तरों पर जाति के आधार पर आरक्षण नहीं दिया जाता है तो प्रशासन में एक जाति का आधिपत्य स्थापित हो जाएगा जो लोकतंत्र की अवधारणा के विरुद्ध है। इसलिए चम्पाकम दुरई राजन से लेकर नवीनतम मुकेश कुमार केस में सुप्रीम कोर्ट का निर्णय लोकतंत्र की अवधारणा के खिलाफ है।

सरकारी नौकरियों में नियुक्ति या पदोन्नति में आरक्षण के विरोध में अक्सर यह तर्क दिया जाता है कि यह अवसर की 'समता के अधिकार' के खिलाफ है। ऊपरी तौर पर देखने से ऐसा लग सकता है। लेकिन यदि समता के अधिकार का अध्ययन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया जाए तो स्पष्ट होगा कि आरक्षण व्यवस्था से समता के अधिकार का उल्लंघन नहीं होता है बल्कि विस्तार होता है। इसको समझने के लिए अधिकारों की अवधारणा के विकासक्रम को समझना होगा।

प्राचीन तथा मध्यकाल के राजनीतिक चिंतन में व्यक्ति के अधिकारों का उस रूप में उल्लेख नहीं मिलता है, जिस रूप में व्यक्ति के अधिकारों का स्वरूप आज हमारे सामने है। व्यक्ति, सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का अंग मात्र माना जाता था। व्यक्ति का अलग से अपना कोई अस्तित्व नहीं था। 16वीं शताब्दी से आधुनिक काल की शुरुआत के साथ एक नए व्यक्ति की अवधारणा विकसित होती है जो अपने स्वतंत्र अस्तित्व की मांग करता है। हाब्स के चिंतन में यह व्यक्ति अस्तित्व में आता है जो लॉक के चिंतन में जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति के अधिकारों की मांग की जाती है। यही व्यक्ति इंग्लैंड की गौरवमयी क्रांति, अमेरिका की क्रांति एवं फ्रांस की क्रांति का आधार बनता है। 20वीं सदी में रूस और चीन की क्रांतियों के पश्चात आधुनिक व्यक्ति की अवधारणा अपना व्यवस्थित स्वरूप ग्रहण करती है। यह योरोप की दार्शनिक अवधारणा का विकासक्रम है लेकिन भारत भी इससे अलग नहीं है। अंग्रेजों के आगमन के पश्चात ही भारत में भी व्यक्ति के अधिकारों की बात होनी शुरू होती है तथा समाज और राज्य से अलग व्यक्ति के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है। 'स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' जैसे नारे अंग्रेजी राज में ही लगाए जाते हैं मुगलों के राज में नहीं। बहरहाल, संविधान में नागरिकों के जिन अधिकारों को मौलिक अधिकार की मान्यता दी गई है उसमें 'समता का अधिकार' एक महत्वपूर्ण अधिकार है। नागरिकों का मौलिक अधिकार 'राज्य' के अधिकारों के विरुद्ध होता है तथा राज्य ही उसका संरक्षक होता है। समता के अधिकार के दो भाग हैं। एक 'कानून के समक्ष समानता' तथा दूसरा, कानून का समान संरक्षण। कानून के समक्ष समानता का अर्थ है कि 'राज्य' समान व्यक्तियों के साथ समानता का बर्ताव करेगा, लेकिन 'कानून का समान संरक्षण' का अर्थ है कि 'राज्य' असमान व्यक्तियों के साथ असमान बर्ताव करेगा। यही अनुच्छेद सामाजिक न्याय की अवधारणा तथा लोकतांत्रिक शासन प्रणाली में सामाजिक प्रतिनिधित्व का उत्स है। समान व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार तो 'समता' का व्यवहार

है लेकिन असमान व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार 'समता' नहीं है। असमान व्यक्तियों के साथ असमान व्यवहार करना ही समानता के आदर्श को प्राप्त करना है। इसलिए आरक्षण, अवसर की समता के विरुद्ध नहीं है बल्कि समता के आदर्श को प्राप्त करने का तरीका है। आरक्षण, सामाजिक रूप से असमान व्यक्तियों के साथ असमानता का व्यवहार है जो वास्तव में सामाजिक समानता स्थापित करने का मार्ग है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि भारत के संविधान की उद्देशिका में हम भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्वसंपन्न समाजवादी पंथ निरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए भारत के संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मर्पित करते हैं। इसी उद्देशिका में समस्त नागरिकों को अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए भी हम भारत के लोग कृतसंकल्प होते हैं। यहां तक तो कोई विवाद नहीं है। लेकिन यदि सीमित अवसर के लिए एक से अधिक नागरिक दावा करते हैं तो राज्य किसे अवसर प्रदान करेगा, आरक्षण संबंधी विवादों में यही मूल प्रश्न होता है। इस प्रश्न का उत्तर भी संविधान देता है। यदि 'अवसर की समता' के अधिकार को सामाजिक न्याय और लोकतंत्र की अवधारणा के साथ पढ़ा जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि सीमित अवसर होने पर प्राथमिकता के क्रम में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, पिछड़े वर्ग एवं उच्च जाति का नागरिक पात्र होगा। लेकिन भारतीय न्यायपालिका इस क्रम को स्वीकार नहीं करना चाहती है इसलिए पिछले सत्तर वर्षों में सैकड़ों निर्णय आरक्षण के विरुद्ध दे चुकी है।

अब जबकि स्पष्ट हो चुका है कि सिविल अपील संख्या 1226/2020 मुकेश कुमार व अन्य बनाम उत्तराखंड सरकार के मामले में सुप्रीम कोर्ट द्वारा दिया गया सात फरवरी, 2020 का निर्णय न केवल अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति व अन्य पिछड़े वर्गों के संवैधानिक अधिकारों के विरुद्ध है, बल्कि लोकतंत्र की अवधारणा के भी विरुद्ध है, तो प्रश्न उठता है कि क्या किया जाए। संविधान की संरक्षक की भूमिका जहां न्यायपालिका को

निभानी चाहिए वहीं पर संवैधानिक मूल्यों को समाज में लागू करने के लिए विधि निर्माण की जिम्मेदारी विधायिका की है। न्यायपालिका, कार्यपालिका एवं विधायिका में जहां चेक एंड बैलेंस सिद्धांत संविधान का आधार है, वहीं पर गतिरोध की स्थिति में अग्रणी भूमिका निभाने की जिम्मेदारी संविधान ने विधायिका को दी है। पिछले सत्तर वर्षों में विधायिका ने इस भूमिका को बखूबी निभाया भी है। विधायिका में आरक्षण के लिए एक स्पष्ट और विस्तृत कानून बनाने की आवश्यकता है। इस कानून की शब्दावली के लिए डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर की पुस्तक 'राज्य और अल्पसंख्यक' को देखना चाहिए जिसे बाबासाहेब का मूल संविधान भी कहा जाता है। इस पुस्तक में निम्नलिखित प्रावधान प्रस्तावित किए गए हैं।

अनुच्छेद 2, अनुभाग 4- अनुसूचित जातियों के लिए सुरक्षोपाय

भाग 1. प्रत्याभूतियां:

खंड 1- विधान मंडल में और स्थानीय निकायों में प्रतिनिधित्व का अधिकार

खंड 2 - कार्यपालिका में प्रतिनिधित्व का अधिकार

खंड 3- सेवाओं में प्रतिनिधित्व का अधिकार

संविधान के भाग-3 में उक्त तीनों अधिकारों को संशोधन के माध्यम से सन्निविष्ट करना चाहिए। इसके साथ ही न्यायपालिका की सामाजिक संरचना को लोकतांत्रिक बनाने की आवश्यकता है। सर्वोच्च न्यायालय में इस समय अनुसूचित जाति का एकमात्र न्यायाधीश है। अनुसूचित जनजाति एवं अन्य पिछड़े वर्ग का एक भी नहीं है। भारतीय संदर्भ में न्यायपालिका की संरचना लोकतांत्रिक नहीं है इसमें भी 'सेवा में प्रतिनिधित्व' मूल अधिकार के अंतर्गत अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति व अन्य पिछड़े वर्ग के लिए जनसंख्या के अनुपात में आरक्षण का विधान किया जाना चाहिए। नहीं तो न्यायपालिका रोम की देवी 'डेलफी' की भूमिका निभाती ही रहेगी जिसका जिक्र डॉ. आंबेडकर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'जाति का विनाश' में किया है। ■



# दिल्ली में तांडव: बर्बरता और अराजकता की ओर बढ़ता देश

## सिद्धार्थ

बहुतों के लिए यह कल्पना करना मुश्किल था कि देश की राजधानी का एक बड़ा हिस्सा तीन दिनों ( 23,24, 25 फरवरी) तक धू-धू कर जलता रहेगा, जै श्रीराम और कहीं-कहीं अल्लाह हू अकबर के भी नारे लगाते उन्मादी हत्या, आगजनी और लूटपाट करते रहेंगे, पुलिस मूकदर्शक, असहाय और कुछ मामलों में दंगाइयों का साथ दे रही होगी। दंगाई इतने बेखौफ होंगे कि पुलिस वाले की भी हत्या कर दें। शासन-प्रशासन हाथ पर हाथ रखे बैठा रहेगा और यह सब उस समय होगा, जब दुनिया के सबसे ताकतवर देश के राष्ट्रपति ( अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रम्प) की शानदार आगवानी के लिए हमारे प्रधानमंत्री ने जी- जान लगा दिए हो। अमेरिकी राष्ट्रपति को भारत का कोई वीभत्स और धिनौना चेहरा न दिखे, इसके लिए लंबी दीवारें बनवा दी हों, ताकि झुगियों में रहने वाले असल भारत से ट्रम्प का साबका न पड़े। ट्रम्प जिन सड़कों, जिन जगहों और हवाई अड्डे से गुजरने वाले हों, वहां से उन सभी लोगों को उजाड़ दिया गया हो, जिन्हें प्रधानमंत्री जी ट्रम्प को न दिखाना चाहते हों। प्रधानमंत्री जी और गृहमंत्री जी के इन सब प्रयासों के बावजूद दिल्ली में दंगे भड़क उठे और पूरी दुनिया में ट्रम्प यात्रा से अधिक, धू-धू कर जलती दिल्ली की तस्वीरें पहुंची। 28 फरवरी तक उन्मादी भीड़ द्वारा 38 लोगों के मारे जाने की पुष्टि हो चुकी है, जिसमें 85 वर्ष की एक दादी-परदादी भी है, जिन्हें जिंदा जला दिया गया। तीन सौ से अधिक लोग घायल हैं। कई जीवन-मरण के बीच झूल रहे हैं। लाखों शवगृहों में पड़ी अपने अंतिम संस्कार का इंतजार कर रही हैं। लोग सुरक्षित पनाहों की तलाश में दिल्ली छोड़कर जा भी रहे हैं। आखिर यह सब ऐन ट्रम्प के आने के मौके पर ही कैसे हो गया? शायद ही वे ( मोदी-अमित शाह) लोग ऐसा

चाहते रहे हों। क्या कहा जाए कि अब मामला संघ-भाजपा और मोदी-अमित शाह के हाथ से भी निकल रहा है? इन लोगों ने नफरत का जो जहर बोया और धर्म के नाम हिंसा का, जो भस्मासुर पैदा किया, वह अब इनके भी नियंत्रण से बाहर जा रहा है और क्या यह भस्मासुर पूरे देश को हिंसा की लपेट ले लेगा और यह देश बर्बरता और अराजकता के एक ऐसे भंवर में फं सने जा रहा है, जहां से निकलना नामुमकिन तो नहीं, लेकिन काफी मुश्किल होगा। इस संदर्भ में जुलाई 2018 के *समयांतर* के संपादकीय में सटीक टिप्पणी की कई थी या कहीं भविष्य की संभावनाओं की ओर संकेत किया गया था, इसमें लिखा था कि “ निश्चय ही हिंसा का सार्वजनिक स्वीकार फासीवाद की आहट है। दुर्भाग्य से यह भी स्पष्ट है कि शासक वर्ग इसका लाभ सांप्रदायिक ध्रुवीकरण के माध्यम से भरपूर उठाने की कोशिश करेंगे। पर इतने बड़े देश में कानून का अवमूल्यीकरण अंततः व्यापक अराजकता को जन्म देगा। इसके आसार नजर आने लगे हैं।”

दिल्ली के दंगे के स्वरूप और समय दोनों को देखते हुए क्या यह कहना उचित नहीं होगा कि देश अराजकता की ओर जा रहा है और अराजकता बर्बरता को जन्म देती है। जब किसी देश में भी कानून और उसका पालन करने वाली एजेंसियां उन्मादी भीड़ और उन्हें उकसाने वालों के सामने समर्पण करने लगती हैं और साथ ही प्रत्यक्ष एवं परोक्षतौर उनका समर्थन करने लगती हैं, उसी समय इस बात की मुनादी हो जाती है कि देश अराजकता की ओर बढ़ रहा है, जिसे नियंत्रित कर पाना उन लोगों के लिए भी एक समय मुश्किल भरा हो जाएगा, जिन्होंने अपनी विचारधारा, एजेंडे और राजनीतिक लाभ के लिए इसे बढ़ावा

दिया था।

आइए इस पूरे संदर्भ और प्रसंग में दिल्ली के दंगों का एक विश्लेषण करने की कोशिश करते हैं। वैसे दिल्ली या दिल्ली जैसे दंगों की नींव उसी दिन पड़ गई थी, जिस दिन सावरकर और जिन्ना जैसे लोगों ने हिंदू और मुसलमान के आधार पर दो राष्ट्र का सिद्धांत प्रस्तुत किया और देश के बड़े हिस्से ने इसे स्वीकार भी कर लिया। जिसका निहितार्थ यह था कि हिंदू और मुसलमान एक दूसरे के साथ एक देश में नहीं रह सकते हैं। जिसके नतीजे के तौर पर भारत का विभाजन हुआ और मुसलमानों के लिए अलग देश पाकिस्तान का जन्म हुआ, हालांकि 1971 में बांग्लादेश के जन्म ने यह पूरी तरह साबित कर दिया कि साथ रहने के लिए या अलग रहने के लिए धर्म से अधिक अन्य तत्व मायने रखते हैं। लेकिन इस कहानी के विस्तार में नहीं जाते हैं। पाकिस्तान बनने के बाद भी नए भारत ने इस सोच को खारिज कर दिया कि हिंदू-मुसलमान एक साथ नहीं रह सकते हैं। भारत के संविधान निर्माताओं और राष्ट्र निर्माताओं ने इस बात की खुलेआम घोषणा की कि किसी राष्ट्र के निर्माण का आधार धर्म नहीं हो सकता है और एक राष्ट्र के भीतर स्वतंत्रता और समानता के साथ अनेक धर्मों के लोग रह सकते हैं। इससे भी एक कदम आगे बढ़कर भारतीय संविधान ने धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए कुछ विशेषाधिकारों की भी घोषणा की। इसके साथ ही पाकिस्तान बनने के बावजूद भी भारत के मुसलमानों के एक बड़े हिस्से ने भारत को ही अपने वतन के रूप में स्वीकार किया और यहीं जीने-मरने का संकल्प लिया और इसी के प्रति अपनी प्रतिबद्धता प्रकट की।

लेकिन इस सब के बीच एक ऐसी शक्ति ( पहले हिंदू महासभा और फिर आरएसएस) भी थी, जिसे यह विचार स्वीकार नहीं था कि भारत पर मुसलमानों का भी उतना ही हक है, जितना हिंदुओं का। इन्हीं के विचारों के नाथू राम गोडसे ने गांधी की हत्या, इस कारण से कर दी क्योंकि वह सबसे जोर से कहते थे कि पाकिस्तान के बनने के बाद भी भारत में रह रहे मुसलमानों का भारत पर उतना ही हक है, जितना हिंदुओं का। लेकिन आजादी के बाद लंबे समय तक तमाम उतार-चढ़ावों और कमजोरियों के बाद भी भारत इस समझ के साथ आगे बढ़ता रहा है कि राष्ट्र-देश का

आधार धर्म नहीं हो सकता, लेकिन भीतर-भीतर संघ अपना कार्य रहा था। बीच-बीच में उसे आंशिक सफलता मिलती रही, लेकिन 2014 में उसे पूरी तरह सफलता तब मिली, जब उसने हिंदुत्व के नाम पर देश की सत्ता पर कब्जा कर लिया, भले ही इसमें विकास का छौंक भी लगाया गया था। यह सफलता 2019 में न केवल दुहरायाई गई, बल्कि ज्यादा ताकत से संघ-भाजपा की वापसी हुई। इस बार विकास का कोई वादा भी नहीं था, सिर्फ और सिर्फ मुसलमान और पाकिस्तान चुनावी जीत के आधार बने।

अपने करीब 95 वर्षों के इतिहास में संघ ने यह जहर बोया कि इस देश के सबसे बड़े दुश्मन मुसलमान हैं और हिंदू राष्ट्र बने बिना यह देश अपना तथाकथित खोया गौरव प्राप्त नहीं कर सकता है और न ही विश्व गुरु बन सकता है।

संघ-भाजपा और उसके आनुषांगिक संगठनों ने विभिन्न तरीकों से मुसलामानों के खिलाफ जहर बोया। 2014 के बाद तो खुलकर मीडिया के बहुलांश हिस्से ने इस काम में इनका भरपूर साथ दिया। मीडिया की टीआरपी का मुख्य आधार हिंदू, मुसलमान और पाकिस्तान बन गया। इस काम के लिए इस देश के कारपोरेट घरानों ने अपनी तिजोरियां खोल दीं।

पहले तो इस जहर की फसल वोट के रूप में काटी गई। केंद्र के साथ विभिन्न प्रदेशों में भाजपा की सरकारें बनीं। संघ खुलकर भाजपा के साथ सामने आया और भाजपा की निति-नियत को तय करने लगा, जिसके केंद्र में दो ही चीजें रही-पहली हर तरह मुसलमानों को देश के लिए और हिंदुओं के लिए खतरों के रूप में प्रस्तुत करना और उनका संबंध पाकिस्तान से जोड़ना और उनके खिलाफ हिंदुओं के भीतर इतना जहर भरना की उन्हें उनकी हत्या करने या जिंदा जलाने में थोड़ी भी हिचक न हो। इसका प्रयोग सबसे पहले सुनियोजित तरीके से वर्तमान प्रधानमंत्री के मुख्यमंत्री रहते 2002 में गुजरात में उनके नेतृत्व में किया गया था। दूसरी चीज यह कि धार्मिक उन्माद में डूबे देश की सार्वजनिक संपत्तियों, संसाधनों एवं पूंजी को मोदी के कारपोरेट मित्रों को सौंपना।

आर्थिक मोर्चे पर लगातार असफल होती जा रही मोदी सरकार लोगों को रोजी-रोटी तो

दे नहीं पा रही है, उसके पास चुनाव जीतने और लोगों का समर्थन बनाए रखने का एक मात्र रास्ता सांप्रदायिक-धार्मिक उन्माद का दिख रहा है, जिस पर राष्ट्रवाद एवं राष्ट्र प्रेम का मुलम्मा चढ़ाया जा रहा है। कश्मीर में अनुच्छेद-370 की समाप्ति, सीएए, एनपीआर और एनआरसी इसी की कड़ी हैं। इस सब के माध्यम से संघ-भाजपा की सरकार दो निशाने एक साथ साध रही है, पहला संघ के भारत को हिंदू राष्ट्र बनाने के सपने को पूरा करना और इस सब के माध्यम से लोगों को उनके बुनियादी मुद्दों से भटकाकर उन्हें धार्मिक-राष्ट्रवादी उन्मादी बनाना अर्थात् उनके भीतर नफरत का जहर भरना। इसी जहर के भरोसे भाजपा ने दिल्ली का चुनाव भी जीतने की भरपूर कोशिश की। वोट का ऐसा बटन दबाओ की करेंट शाहीन बाग तक लगे, ऐसा कहकर स्वयं गृहमंत्री ने इसकी शुरुआत की। उन्होंने विरोधी पार्टी के नेताओं को टुकड़े-टुकड़े गैंग का कहा। रही-सही कसर उनके वित्त राज्यमंत्री अनुराग ठाकुर ने गोली मारो सालों को कहकर पूरी कर दी। प्रवेश वर्मा और आम आदमी से निकलकर नया योगी आदित्यनाथ बनने की कोशिश करने वाले कपिल मिश्रा ने तो सारी हदें तोड़ दी और दिल्ली को दंगे की ज्वाला में झोंकने का पूरा इंतजाम कर दिया।

2014 में सत्ता में आते ही भाजपा सरकार ने दिल्ली पुलिस के प्रोफेशनल चरित्र को बिगाड़ते हुए उसका राजनीतिकरण एक हद तक करना शुरू कर दिया था, लेकिन भाजपा की दूसरी पारी में गृहमंत्री बने अमितशाह ने पूरी तरह दिल्ली पुलिस को संघ-भाजपा का एजेंट बना दिया। इसका सबसे ताजा और मुखर उदाहरण जे एनयू और जामिया मिल्लिया विश्वविद्यालय के संदर्भ में पुलिस के रवैए के रूप में सामने आया था। पुलिस के पक्षपातपूर्ण रवैए से आहत होकर दिल्ली हाईकोर्ट के न्यायाधीश मुरलीधरन को दिल्ली पुलिस को कपिल मिश्रा, प्रवेश वर्मा और अनुराग ठाकुर के खिलाफ एफआईआर दर्ज करने का आदेश जारी करना पड़ा। भले ही रातों-रात उनके तबादले का आदेश भी जारी कर दिया गया।

दंगे शुरू हुए तो पुलिस किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति में थी। पुलिस ने साफ-साफ स्वीकार किया की ऊपर से कोई आदेश नहीं

आया है। जब आदेश आया तो पुलिस दंगे रोक पाने में सफल भी हो गई। एक थाने के सिपाही ने *द इंडियन एक्सप्रेस* से साफ कहा कि ऊपर से आदेश आ गया है और अब हम स्थिति नियंत्रित कर लेंगे। यह भी सच है कि भारतीय पुलिस के भीतर भी धर्म और हिंदू राष्ट्र का जहर भर दिया गया है, नहीं, तो पुलिस की मौजूदगी और उनके सहयोग से अधमरे मुस्लिम नौजवानों से राष्ट्रगान गवाने और भारत माता की जय बुलवाने जैसी स्थिति नहीं देखने को मिलती, जिसका वीडियो सबके सामने आ चुका है।

न्यायालय जैसी निष्पक्ष कही जाने वाली संस्थाओं पर से भी लोगों को भरोसा टूट रहा है। सुप्रीम कोर्ट के वरिष्ठ न्यायाधीश अरुण मिश्र खुलेआम मोदी जी का गुणगान कर रहे हैं, जिसकी निंदा सर्वोच्च न्यायालय की बार कार्डसिल को करनी पड़ रही है।

ऐसे में जब कानून का राज खत्म हो रहा है, हिंसा को सार्वजनिक स्वीकृति मिल रही है, मुख्यमंत्री और मंत्री के पदों पर बैठे लोग खुलेआम हिंसा के लिए भड़का रहे हैं, या हिंसा के लिए भड़काने वाले लोगों को विधायक, सांसद, मंत्री और मुख्यमंत्री बनाया जा रहा है। कानून को क्रियान्वित करने वाली और निगरानी रखने वाली एजेंसियों-संस्थाओं को तहस-नहस कर उनकी स्वायत्तता को खत्म किया जा रहा है और उनके पेशेवर चरित्र को बनाए रखने की जगह उन्हें खास विचारों, संस्थाओं और व्यक्तियों का उपकरण बनने के लिए प्रेरित और बाध्य किया जा रहा है। ऐसे में कानून का राज कायम कैसे रह सह सकता है। यह स्थिति एक ऐसी अराजकता को जन्म दे रही है, जहां बर्बरता या जिसकी लाठी उसकी भैंस की स्थिति ही फले-फूलेगी। दिल्ली का दंगा बता रहा है कि देश को एक घने अंधकार की ओर ले जाया जा रहा है, एक ऐसे भस्मासुर को जन्म दिया जा रहा है, जिसे नियंत्रित करना शायद उसे जन्म देने वाले के वश में भी नहीं रह जाएगा।

दिल्ली का दंगा भविष्य के एक भयावह भारत की तस्वीर प्रस्तुत कर रहा है। इसका सामना जैसे भी जितनी जल्दी किया जा सके, किया जाना चाहिए। यही भारत और मानवता के भविष्य की मांग है। ■

# आप की जीत और उम्मीदों का भ्रम

जावेद अनीस

भाजपा केंद्र में भले ही लगातार दूसरी बार मजबूती के साथ वापसी करने में कामयाब रही हो परंतु वह सिलसिलेवार तरीके से राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, पंजाब, महाराष्ट्र और झारखंड जैसे महत्वपूर्ण राज्यों को गवांती गई है। अब इस कड़ी में दिल्ली का नाम भी जुड़ गया है। यहां मतदाताओं ने भाजपा के उन्मादी चुनावी अभियान पर पानी फेरते हुए एक बार फिर 'अरविंद केजरीवाल' पर अपना भरोसा जताया है। भाजपा अपने कोर एजेंडे, भड़काऊ प्रचार, तमाम संसाधनों, पार्टी संगठन और केंद्र सरकार की पूरी ताकत झोंक देने के बावजूद आम आदमी पार्टी के हाथों चारों खाने चित हुई है।

दिल्ली में आम आदमी की यह जीत शानदार तो है परंतु साथ ही यह भ्रमित करने वाली भी है। मोदी विरोधी दिल्ली के जनादेश को भाजपा के उग्र हिंदुत्ववादी एजेंडे के खिलाफ आम लोगों से जुड़े वास्तविक मुद्दों की राजनीति की जीत बता रहे हैं जिसका प्रतिनिधित्व अरविंद केजरीवाल करते हैं। कई लोग इसे कांग्रेस के अप्रसंगिक होने और उसकी जगह आम आदमी पार्टी के उभरने की भविष्यवाणी भी कर रहे हैं। आप की जीत विकल्प की राजनीति या भाजपा के खिलाफ विचारधारात्मक जीत नहीं है बल्कि इसका श्रेय आम आदमी पार्टी की चुनावी रणनीति, प्रचार तंत्र, विचारधारात्मक लचीलेपन और राज्यों में राष्ट्रीय मुद्दों की जगह स्थानीय मुद्दों के हावी होने के प्रवृत्ति को जाता है।

आम आदमी पार्टी (आप) का सफर बहुत उतार-चढ़ाव वाला रहा है। यह एक ऐसे आंदोलन से निकली पार्टी है जिसका फायदा खुद इसे होने के साथ-साथ नरेंद्र मोदी और भाजपा को भी हुआ है। साल 2012 में गठन होने के बाद आप से बहुत उम्मीदें जगी थीं और इससे वैकल्पिक राजनीति की संभावनाएं व्यक्त की गई थीं लेकिन आप इन तमाम उम्मीदों पर खरी नहीं उतर पाई, उसने शुरुआत से ही लगातार गलतियां की हैं। सन् 2013 के दिल्ली विधानसभा चुनाव में आप ने 28 सीटें जीती थीं

और अरविंद केजरीवाल ने पहली बार दिल्ली के मुख्यमंत्री के तौर पर शपथ ली थी। तब कांग्रेस ने उनकी सरकार को बाहर से समर्थन दिया था लेकिन महज 48 दिनों के भीतर ही केजरीवाल ने इस्तीफा दे दिया था। इसके बाद गुजरात पहुंच कर वह मोदी और उनके तथाकथित 'गुजरात विकास माडल' को चुनौती देने चले गए, इसके बाद आप ने 2014 के लोकसभा चुनाव के दौरान बिना किसी संगठन के एक ही झटके में सौ सीटों पर अपने उम्मीदवार उतार दिए थे, खुद केजरीवाल मोदी के खिलाफ चुनाव लड़े लेकिन पार्टी का अपने गढ़ दिल्ली में ही पत्ता साफ हो गया। दिल्ली के 2015 के विधानसभा चुनाव में किस्मत ने आम आदमी पार्टी को एक और मौका दिया, जिसमें आप ने दिल्ली की 70 विधानसभा सीटों में से 67 सीटों पर जीत हासिल की थी, जो एक असाधारण उपलब्धि थी। लेकिन इसके बाद आप पर केजरीवाल हावी होते गए और उनसे असहमति रखने वाले या सवाल करने वाले लोगों को बहुत बेहरमी से बाहर का रास्ता दिखा दिया गया, उम्मीदें टूटने के बाद लोग बड़ी तेजी के साथ पार्टी छोड़ कर जाने भी लगे।

हालांकि इस बार मुख्यमंत्री के तौर पर केजरीवाल काफी बदले हुए नजर आए और जल्दी ही वह अपने आप को कुशल प्रशासक और जनहितैषी मुख्यमंत्री के तौर पर स्थापित करने में कामयाब हो गए। जल्दी ही दिल्ली सरकार द्वारा शिक्षा, स्वास्थ्य जैसे क्षेत्रों में किए गए काम पूरे देश में चर्चित होने लगे हालांकि इसमें आक्रामक विज्ञापन की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

कांग्रेस-भाजपा सहित तमाम छोटे-बड़े क्षेत्रीय दलों से ऊबे जनता व लोकतांत्रिक और जनपक्षीय ताकतों के लिए आप का उभार एक नई उम्मीद लेकर आया था, आशा जगी थी कि आप और उसके नेता नई तरह के राजनीति की इबारत लिखेंगे। लेकिन आप से नई राजनीति की उम्मीद पालने वालों को जल्दी ही निराशा होना पड़ा। जनता से स्वराज्य और सत्ता के

विकेंद्रीकरण का वादा करने वाली पार्टी इन्हें अपने अंदर ही स्थापित करने में नाकाम रही है। इन सब पर व्यक्तिवाद और निजी महत्वाकांक्षा हावी हो गई, सयाने अरविंद केजरीवाल ने स्वयं को पार्टी का हाई कमांड साबित कर दिया। जैसा कि कुछ साल पहले आप के संस्थापक सदस्य शांति भूषण ने चिंता जाहिर करते हुए कहा था कि "केजरीवाल से आप की अवधारणा को नुकसान हुआ है।" धीरे-धीरे अरविंद केजरीवाल और उनके लोग आप आइडिया नामक की सीमा बनते गए हैं। फिलहाल आम आदमी पार्टी का बड़ा संकट अरविंद केजरीवाल के करिश्मे पर ही पूरी निर्भरता है।

## विचारधारा का अभाव

आम आदमी पार्टी किसी विशेष विचारधारा द्वारा निर्देशित नहीं है। आप की विचारधारा को लेकर एक बार अरविंद केजरीवाल ने कहा था कि "हमने व्यवस्था को बदलने के लिए राजनीति में प्रवेश किया है। हम आम आदमी हैं, अगर वामपंथी विचारधारा में हमारे समाधान मिल जाएं तो हम वहां से विचार उधार ले लेंगे और अगर दक्षिणपंथी विचारधारा में हमारे समाधान मिल जाएं तो हम वहां से भी विचार उधार लेने में खुश हैं।"

इसलिए आज हम देखते हैं कि केजरीवाल राष्ट्रीय मुद्दों पर या तो मोदी सरकार के साथ, सहमति भरी चुप्पी या ढुलमुल नजर आते हैं, कई लोग इसे उनकी रणनीति बताते हैं लेकिन रणनीति से पहले अपनी नीति और राजनीतिक विचारधारा का चुनाव करना जरूरी है।

दिल्ली में तीसरी जीत के बाद अरविंद केजरीवाल एक बार फिर महत्वाकांक्षी नजर आने लगे हैं। आम आदमी पार्टी द्वारा 'राष्ट्र निर्माण के लिए आम आदमी पार्टी से जुड़िए' के नारे के साथ एक फोन नंबर जारी किया गया है। दरअसल आप की दिलचस्पी विपक्ष के साथ मिलकर भाजपा और संघ की विचारधारा को चुनौती देने के बजाए कांग्रेस की जगह को हथियाने में ज्यादा नजर आ रही है। 2019 के लोकसभा चुनाव के बाद से केजरीवाल ने नरेंद्र मोदी का सीधा विरोध करना बंद कर दिया है। अब वह अपने आप को मोदी के खामोश समर्थक की तरह पेश कर रहे हैं और अब मोदी सरकार दो के बड़े फैसलों जैसे अनुच्छेद 370 को हटाए जाने जैसे फैसले के साथ खुल कर सामने आए हैं।

दिल्ली के बाद एक बार फिर उनका फोकस पंजाब, हरियाणा और राजस्थान जैसे राज्यों पर होने वाला है। हालांकि इस मामले में आप पहले ही एक मौका गवां चुकी है। पार्टी पर अरविंद केजरीवाल के संपूर्ण नियंत्रण के बाद से वह केंद्रित होती गई है जिससे उसका चरित्र दिल्ली की पार्टी की तरह बन गया है। दिल्ली में तो केजरीवाल सर्वेसर्वा हैं ही, दूसरे राज्यों में भी स्थानीय नेतृत्व को उभरने नहीं दिया गया है। साल 2015 में दिल्ली में जीत के बाद आम आदमी पार्टी के कांग्रेस के विकल्प के रूप में उभरने की काफी संभावनाएं थीं, परंतु अपने व्यक्तिवाद, सांगठनिक सीमाओं और वैचारिक अस्पष्टता के चलते आप यह मौका पहले ही गवां चुकी है। इधर कांग्रेस की स्थिति भी पहले से बेहतर हुई है। उसने कई बड़े राज्यों में अपने और दूसरी पार्टियों के साथ गठबंधन के दम पर वापसी की है, साथ ही केंद्र में अभी भी कांग्रेस की ही मुख्य विपक्ष के तौर पर स्वीकार्यता है। ऐसे में आम आदमी पार्टी का “कांग्रेस मुक्त भारत” का सपना कितना पूरा होगा इसमें संदेह है।

भारत आज विचारधारात्मक संघर्ष से गुजर रहा है, केंद्र में सत्ताधारी पार्टी देश के स्वरूप और राजनीतिक विमर्श को पूरी तरह से बदल देने में उतारू है। ऐसे में राजनीति सिर्फ चुनावी खेल नहीं रह गया है। दिल्ली चुनाव में अपनी पार्टी की हार के बाद अमित शाह ने कहा था कि “भाजपा विचारधारा पर आधारित पार्टी है और वह सिर्फ जीत के लिए चुनाव नहीं लड़ती बल्कि चुनाव उसके लिए विचारधारा को आगे बढ़ाने का माध्यम भी होता है।” जाहिर है दिल्ली में भाजपा का चुनावी अभियान का मकसद सिर्फ चुनाव जीतने तक सीमित नहीं था बल्कि यह भारत के बहुसंख्यकों के मानस को बदल देने की विराट परियोजना का हिस्सा था। ऐसे में दिल्ली प्रदेश के चुनावी नतीजे से देश की राजनीति में किसी बड़े परिवर्तन की उम्मीद करना अपने आप को भ्रम में डालना होगा। केजरीवाल और उनकी पार्टी भाजपा और संघ-परिवार पोषित बहुसंख्यक राष्ट्रवाद और इसके खतरों का विकल्प नहीं बन सकते हैं। दरअसल इस चुनावी अभियान में आप ने भाजपा के इस फार्मूले को ही मजबूत किया है कि किसी भी सियासी जमात को इस देश में राजनीति करनी है तो मुसलमानों से बच कर रहना होगा। ■

## दृष्टिकोण

# दिल्ली हिंसा का सबक

अजय सिंह

देश की राजधानी दिल्ली में 23 फरवरी 2020 से शुरू हुई पूर्व-नियोजितभयानक मुस्लिम-विरोधी हिंसा ने, जिसमें अब तक 40 लोगों की जानें जा चुकी हैं, एक बात बहुत साफतौर पर बता दी है। वह यह कि नागरिकता संशोधन कानून (सीएए), राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर (एनपीआर) और राष्ट्रीय नागरिक रजिस्टर (एनआरसी) भारत के लिए अत्यंत विभाजनकारी व विघटनकारी हैं। इन्हें फौरन वापस लिया जाना चाहिए या रद्द कर देना चाहिए, नहीं तो दिल्ली से भी ज्यादा खौफनाक हालात देश में पैदा हो सकते हैं।

सीएए-एनपीआर-एनआरसी को लेकर खासकर मुस्लिम समुदाय के अंदर गहरी असुरक्षा, चिंता और आशंका पैदा हो गई है। उसकी वाजिब वजहें हैं। इस चिंता और असुरक्षा को दूर करने की कोई कोशिश केंद्र की भाजपा सरकार और प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी तथा केंद्रीय गृहमंत्री अमित शाह ने नहीं की, उल्टे अपने बयानों और हाव-भाव से उसे और बढ़ाया ही।

हमारे देश में पहली बार नागरिकता-संबंधित कानून (सीएए) को धर्म-आधारित बनाया गया है और इसमें से मुसलमान (इस्लाम धर्म) को बाहर कर दिया गया है। पिछले दिनों असम में एक मुस्लिम महिला का मामला सामने आया है, जिसने भारत की अपनी नागरिकता के सबूत के तौर पर 15 वैध दस्तावेज पेश किए। लेकिन अदालत ने उसके सभी दस्तावेजों को खारिज कर दिया, उसे भारत की नागरिक नहीं माना, अ-नागरिक घोषित कर दिया और उसे हिरासत केंद्र (डिटेंशन सेंटर) में भेज दिया। हिरासत केंद्र, यानी, जेल-जेल से भी बदतर जगह, नाजी जर्मनी के यातना केंद्र की तरह। भारत का मुसलमान अपना भयावह भविष्य इसी रूप में देख रहा है।

सीएए-एनपीआर-एनआरसी के चलते

देश में गृह युद्ध-जैसी स्थिति पैदा हो सकती है। इसकी आहटें सुनाई देने लगी हैं। भारत को सर्बिया-बोस्निया नहीं बनना है, नहीं बनने देना है। भाजपा का नियंत्रक संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ यही चाहता है, ताकि भारत को फासिस्ट हिंदू राष्ट्र बना दिया जाए। सीएए (नागरिकता संशोधन कानून) भारत को हिंदू राष्ट्र बनाने की दिशा में उठाया गया कदम है।

दिल्ली में पुलिस ने मुसलमानों के साथ जिस तरह बर्बर और हिंसक व्यवहार किया, उसने असंदिग्ध रूप से बता दिया है कि पुलिस का पूरी तरह ‘हिंदूकरण’ हो गया है। वह अब पेशेवर (प्रोफेशनल), संविधान व कानून का पालन करने वाली पुलिस न रहकर ‘हिंदू मिलीशिया’ बन गई है और ‘हिंदू रक्षक बल’ में तब्दील हो गई है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भाजपा यही चाहती है। ‘जय श्रीराम’ और ‘वंदेमातरम’ के नारे अब पुलिस के नारे बन चुके हैं। उत्तर प्रदेश में भी दिसंबर, 2019 में पुलिस ने मुसलमानों के साथ ऐसा ही बर्बर व हिंसक सलूक किया था।

हमारा देश, जिसे संविधान की प्रस्तावना में ‘प्रभुत्वसंपन्न, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक गणराज्य’ कहा गया है, गहरे संकट-अस्तित्व के संकट-से गुजर रहा है। ऐसे में शाहीनबाग उम्मीद की किरण की तरह झिलमिला रहा है! ■

## पंजाब और हिमाचल में समयान्तर

### चंडीगढ़

मे. पंजाब बुक सेंटर

22 बी,

### लुधियाना

जनचेतना

दुकान नं. - 8, पंजाबी भवन

### शिमला

शर्मा न्यूज एजेंसी

मेघना कॉम्प्लेक्स निकट लिफ्ट

द मॉल

# अपने ही जन के खिलाफ युद्धरत एक राज्य

कारवां-ए-मोहब्बत की तथ्यों की पड़ताल करने वाली टीम ने 26 दिसंबर, 2019 से 14 जनवरी, 2020 के बीच मेरठ, मुजफ्फरनगर, फिरोजाबाद और संभल में दंगा-प्रभावित इलाकों का दौरा किया। जन-सुनवाईयों के दौरान लखनऊ, कानपुर, वाराणसी और मऊ के भुक्तभोगियों की भी बातें सुनी गईं। प्रस्तुत हैं रिपोर्ट के कुछ अंश : प्रस्तुति : शैलेश

रिपोर्ट के अनुसार हालांकि नागरिकता संशोधन अधिनियम (सीएए), भारतीय नागरिकों के राष्ट्रीय रजिस्टर (एनआरआई) और राष्ट्रीय जनसंख्या रजिस्टर (एनपीआर) के खिलाफ देश भर में शांतिपूर्ण विरोध प्रदर्शन आयोजित किए गए थे लेकिन उत्तर प्रदेश में राज्य द्वारा असंतोष की आवाजों को कठोरता पूर्वक कुचलने का काम किया गया। देश के अधिकांश कोनों में लोग, विशेषकर महिलाएं, बड़ी संख्या में संशोधित नागरिकता कानून का विरोध करने के लिए सड़कों पर उतरीं। लेकिन केवल उत्तर प्रदेश (उप्र) में (और कुछ हद तक तटीय कर्नाटक और बिहार में) ये विरोध हिंसक हो गए। उल्लेखनीय है कि इन सभी राज्यों में भारतीय जनता पार्टी सरकार में है। 27 दिसंबर, 2019 को गृह मंत्रालय के प्रवक्ता ने बताया कि उप्र में 19 दिसंबर, 2019 से विरोध-प्रदर्शन से संबंधित हिंसा में 19 लोगों की मौत हो गई, 1,113 लोगों को विरोध प्रदर्शनों में शामिल होने के आरोप में गिरफ्तार किया गया और 5,558 लोगों की निवारक गिरफ्तारियां की गई हैं। तब से संख्या और बढ़ी ही है। इन कार्रवाइयों द्वारा मुख्यमंत्री आदित्यनाथ ने बदला लेने का आह्वान किया, इसके बाद से पुलिस छापे तथा हमले और भी क्रूर हो गए। मुस्लिम लोगों को कथित रूप से नष्ट की गई सार्वजनिक संपत्ति की भारी-भरकम भरपाई के नोटिस भेजे गए (इसमें पुलिस के उन डंडों की कीमत भी शामिल की गई थी जो उनकी पिटाई के दौरान टूट गए थे)। संपत्तियों को नष्ट करने में किसी की जिम्मेदारी साबित

किए जाने के लिए आवश्यक विधिक जांच के बिना यह सब किया गया। जैसे ही उप्र में पुलिसिया हिंसा की खबरें आने लगीं, मुख्यमंत्री ने अपने आधिकारिक ट्विटर अकाउंट से शेखी बघारते हुए एक विजयी संदेश जारी किया: “हर दंगाई हतप्रभ है। हर उपद्रवी हैरान है। देख कर योगी सरकार की सख्ती मंसूबे सभी के शांत हैं।” उप्र के कई शहरों में तथ्यों की पड़ताल करने वाले कई नागरिक समूहों ने मुस्लिम घरों का दौरा किया और इन घरों के अंदर भी वर्दीधारियों द्वारा किए गए घृणा के तांडव को देखा। कारों और स्कूटरों को पलट दिया गया था और आग लगा दी गई थी, टेलीविजन और वाशिंग मशीनें चकनाचूर कर दी गई थीं, नकदी और आभूषण लूट लिए गए थे, क्रॉकरी और खिलौने तोड़-फोड़ दिए गए थे। एक परिवार द्वारा जिंदगी भर जुटाई गई गृहस्थी को मिनटों में तबाह कर दिया गया था। परिवार शोकाकुल थे। पुलिस ने उनके दरवाजे तोड़ दिए। रहम के लिए गिड़गिड़ा रहे बुजुर्गों, औरतों और बच्चों तक को पीटा। उन्होंने मुसलमानों के बारे में सबसे अश्लील गालियां बकीं। मुस्लिम बहुल कई शहरों में हजारों ‘बिना नाम वाली’ पुलिस शिकायतें दर्ज कराईं ताकि इनका इस्तेमाल वे जब मर्जी हो मुस्लिम लोगों को हिरासत में लेने के लिए कर सकें, तथा पुलिस के खिलाफ बयान देने या उसकी शिकायत करने वालों को चुप कराने के लिए हथियार के रूप में कर सकें। लोग उन लोगों से बात करने से डर रहे हैं जिनके हाथों में कैमरा है और अगर वे बात कर भी रहे हैं तो वे अपना चेहरा ढक लेते हैं।

शहरी क्षेत्र में पूरी मुस्लिम आबादी के बीच भयावह आतंक भर गया है। पुरुषों को डर है कि उनके खिलाफ गंभीर अपराधों के आरोप लगा दिए जाएंगे, तो महिलाओं को डर है कि उनके घरों पर हमले कर दिए जाएंगे। मुस्लिम बस्तियों के बड़े हिस्से खाली हो गए हैं।

रिपोर्ट के मुताबिक उप्र की घटनाओं की प्रकृति और पैमाने को प्रकाश में लाने के लिए 16 जनवरी को दिल्ली में जन सुनवाई आयोजित की गई। इसमें तथ्यों की पड़ताल करने वाली टीमों और व्यक्तियों ने अपने साक्ष्य प्रस्तुत किए। जो तस्वीर उभरती है वह विचलित करने वाली है। यह तस्वीर एक राज्य द्वारा सभी लोकतांत्रिक सिद्धांतों को धता बताते हुए अपने ही नागरिकों के विरुद्ध युद्ध छेड़ देने जैसी है।

## ध्वस्त राज्य तंत्र

रिपोर्ट के अनुसार विरोध-प्रदर्शनों के दमन के लिए पुलिस ने नागरिकों पर जरूरत से ज्यादा हिंसा का इस्तेमाल किया। मुस्लिम समुदाय की आर्थिक रीढ़ को तोड़ डालने के दीर्घकालीन मकसद से भय का माहौल बनाने के लिए पुलिस ने लोगों के घरों को लूटा भी और तहस-नहस भी कर दिया। नाबालिगों सहित बड़ी संख्या में नागरिकों की गैरकानूनी गिरफ्तारियां की गईं और हिरासत में यातनाएं दी गईं। सामान्य कानूनी और मेडिको-लीगल प्रक्रियाओं को होने नहीं दिया गया और उनमें हेरफेर की गई। प्राथमिकी या तो दर्ज नहीं होने दी गई, या गलत दर्ज की गई, इसके लिए पोस्टमार्टम रिपोर्ट तथा मेडिको-लीगल रिपोर्ट दी ही नहीं गईं जिससे परिवारों को न्याय मिलने की संभावना ही न रहे।

मुस्लिम समुदाय के खिलाफ कानून को ही हथियार के तौर पर इस्तेमाल किया गया। हजारों की संख्या में बिना नाम वाली एफआईआर दर्ज की गईं। मनमाने तौर पर नागरिकों को उनके घरों से और गलियों से उठा लिया गया, उनके नाम उन एफआईआर में डाल कर फर्जी मुकदमे बनाए गए और संपत्ति के नुकसान की भारी-भरकम भरपाई के नोटिस भेजे गए। इस तरह से नागरिकों की हिफाजत के लिए बनाई गई न्याय-प्रणाली को ध्वस्त करके उनको भयाक्रांत करने के लिए इस्तेमाल किया गया।

## पंगु बना दिया गया नागरिकों विरोध प्रदर्शन का अधिकार

नागरिकों द्वारा शांतिपूर्ण ढंग से और निडर होकर अपने असंतोष को दर्ज कराने का अधिकार लोकतंत्र की एक महत्वपूर्ण बुनियाद है। लेकिन 2014 में केंद्र में भाजपा के सत्तासीन होने को बाद से इस अधिकार के प्रति सत्ता का रुख असहिष्णुतापूर्ण और तानाशाही भरा रहा है। इसने धारा 144 और इंटरनेट बंद करने का काम बड़े पैमाने पर किया है। उग्र में भी शांतिपूर्ण प्रदर्शनों को कुचलने के लिए यही किया गया। यह औपनिवेशिक कानून सार्वजनिक व्यवस्था के उल्लंघन को रोकने तथा बड़ी सभाओं के हिंसक हो उठने से बचने के लिए उन्हें गैरकानूनी घोषित करने के लिए बनाया गया था। सर्वोच्च न्यायालय के कई निर्णय इसके बार-बार इस्तेमाल के खिलाफ आ चुके हैं। लेकिन उग्र पुलिस ने इसी धारा 144 के उल्लंघन के आधार पर सभी तरह के विरोध-प्रदर्शनों को गैरकानूनी घोषित करते हुए अधिकांशतः शांतिपूर्ण प्रदर्शनों के खिलाफ क्रूर हिंसा की और लोगों के मौलिक अधिकारों का उल्लंघन किया। वाराणसी में धारा 144 के बावजूद सीएए समर्थक रैली को तो आयोजित होने दिया गया लेकिन सीएए विरोधी रैली पर क्रूर हमला किया गया। उग्र में जब हजारों लोग विरोध के लिए इकट्ठा होने वाले थे उसके एक दिन पहले ही धारा 144 लगा दी गई, जबकि प्रदर्शनों के हिंसक होने का कोई अंदेशा नहीं था।

सीएए के पारित होने के बाद कानपुर तथा अन्य शहरों में 13 दिसंबर के बाद से ही शांतिपूर्ण प्रदर्शन जारी थे जिनमें शामिल होने के बाद लोग बिना हिंसक हुए वापस अपने घर चले जाते थे। 20 दिसंबर, 2019 को हापुड़, मुरादाबाद, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, शामली, लखनऊ, प्रयागराज, उन्नाव, आगरा, सुल्तानपुर, मऊ, बागपत, मेरठ, बुलंदशहर, आजमगढ़, गाजियाबाद, कानपुर, पीलीभीत सहित उग्र के कम से कम 18 जिलों में सीएए के विरोध के मद्देनजर इंटरनेट सेवाएं निलंबित कर दी गईं। संभवतः इसलिए ऐसा किया गया ताकि लोग प्रदर्शनों और जनसभाओं की सूचनाओं का आदान-प्रदान न कर सकें। जिस तरह से आज इंटरनेट हमारी अपरिहार्य दैनिक जरूरत बन चुका है ऐसे में यह एक गंभीर व्यवधान तो है ही, लेकिन शोधों के अनुसार ऐसे कदमों से हिंसा नियंत्रित होने की बजाय

अनियंत्रित ही होती है। इंटरनेट शटडाउन की वजह से सामान्य बैंकिंग, नेटबैंकिंग, एटीएम सेवाएं, कैश भुगतान सहित डिजिटल लेन-देन, ओटीपी आधारित सेवाएं, यूपीआई, आधार संबंधी सेवाएं बंद होने से राज्य के लाखों लोगों की जिंदगी प्रभावित होती है, चाहे वे प्रदर्शनों में शामिल हों या न हों। भारत यूं भी इंटरनेट शट डाउन के मामले में चीन, पाकिस्तान, ईरान, चाड और मिस्र से भी आगे है। उग्र प्रशासन ने पक्षपाती तथा असहिष्णु रवैया अपनाया। इंटरनेट बंद करके उसने यह सुनिश्चित करना चाहा कि राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आलोचना न झेलनी पड़े।

## समुदाय के नेताओं को खास करके निशाना बनाया गया

संभल में जिला संघर्ष समिति की शिक्षा, वित्त और नगरपालिका मामलों में अहम भूमिका रही है। 19 दिसंबर को उसे प्रदर्शन करने की अनुमति दी गई थी लेकिन 18 की रात को यह अनुमति वापस ले ली गई, उसके अनेक सदस्यों से जबरन हस्ताक्षर करा लिए गए कि वे किसी निजी या सार्वजनिक विरोध-प्रदर्शन में भाग नहीं लेंगे, कड़ियों को नजरबंद कर लिया गया और विरोध-प्रदर्शन के लिए नियत मैदान में पानी भर दिया गया। समुदाय के नेताओं को डराने-धमकाने की ऐसी ही खबरें मुजफ्फरनगर से भी आईं। वार्डों के नेताओं को प्रशासन द्वारा पत्र भेजे गए कि अगर उनके वार्ड से लोगों ने विरोध-प्रदर्शन में भाग लिया तो इसके लिए वे व्यक्तिगत रूप से जिम्मेदार ठहराए जाएंगे।

## मानवाधिकार समर्थकों की शिनाख्त करना और उन्हें धमकाना

गिरफ्तार किए गए पूर्व आईपीएस और लखनऊ के एक्टिविस्ट एस आर दारापुरी ने बताया कि “मेरी राय से मुझे मानवाधिकारों के पक्ष में तथा फर्जी मुठभेड़ों के खिलाफ और उग्र पुलिस द्वारा की जा रही हिंसा के अन्य रूपों के खिलाफ बोलते रहने के मेरे इतिहास की वजह से खास करके निशाना बनाया गया।” वकीलों, एक्टिविस्टों, पत्रकारों तथा अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने वाले अन्य मानवाधिकार समर्थकों को प्रताड़ित, भयभीत तथा तंग किया जा रहा है और उनके ऊपर अर्बन नक्सल, राष्ट्रविरोधी और आतंकवादी का टैग

लगाया जा रहा है।

एक प्रस्तावित राष्ट्रव्यापी प्रदर्शन से पहले 76 वर्षीय वकील और प्रसिद्ध मानवाधिकार कार्यकर्ता मोहम्मद शोएब को उग्र पुलिस द्वारा पहले घर में नजरबंद किया गया, फिर हिरासत में ले लिया गया। ‘रिहाई मंच’ से जुड़े रॉबिन वर्मा को द हिंदू के पत्रकार उमर राशिद के साथ एक ढाबे पर खाना खाते हुए सादी वर्दी में चार लोगों ने गिरफ्तार किया। उन्हें हजरतगंज थाने के अंदर साइबर सेल जैसे एक कमरे में ले जाया गया जहां रॉबिन की चमड़े के बेल्ट से और थप्पड़ों से पिटाई शुरू कर दी गई।

## रक्षक ही भक्षक बन गए

राज्य में धारा 144 लगने तथा मानवाधिकार कार्यकर्ताओं व सामुदायिक नेताओं को भांति-भांति रूपों में भयभीत किए जाने के बावजूद उग्र के अनेक हिस्सों में जुमे की नमाज के बाद स्वतःस्फूर्त ढंग से हजारों लोग इकट्ठा हो गए। ऐसा आपातकाल के बाद पहली बार हुआ था। लेकिन सबके हाथ खाली थे। किसी को इतनी संख्या की उम्मीद नहीं थी। यह मंजर तेजी से, और बिना किसी उकसावे के, प्रदर्शनकारियों के ऊपर लाठीचार्ज, आंसू गैस और अंधाधुंध पुलिस गोलीबारी में बदल गया।

पुलिस का कहना यह था कि उसकी कार्रवाई एक प्रतिक्रिया थी, क्योंकि कुछ शहरों में नागरिकों ने हिंसक मोड़ ले लिया था। 21 दिसंबर, 2019 को यह सूचित किया गया कि कानपुर पुलिस को जवाबी कार्रवाई के लिए उकसाया गया क्योंकि भीड़ ने पुलिस चौकी को आग लगा दी थी और छतों से पथराव शुरू कर दिया था। लखनऊ, गोरखपुर, बुलंदशहर, मेरठ, मुजफ्फरनगर, भदोही, फिरोजाबाद, बहराइच और जौनपुर में भी ऐसी ही घटनाएं सामने आईं, जहां कथित तौर पर “गुस्से में भीड़” वाहनों को जला रही थी और पथराव कर रही थी।

बुलंदशहर और फिरोजाबाद में स्थिति विशेष रूप से तनावपूर्ण हो गई। लेकिन अनिरबन भट्टाचार्य ने अपनी गवाही में उल्लेख किया है कि इस तथाकथित “दंगाई भीड़” के भीतर घुसपैठ कराए गए उपद्रवियों के पर्याप्त सबूत हैं। हालांकि यह हर उदाहरण में सत्यापित करना मुश्किल हो सकता है फिर भी तथ्य यह है कि इस तरह के कुछ बदमाशों की साजिशों को कई जगहों पर नाकाम किया

गया था और उत्तेजना फैलाने वाले एजेंट के रूप में इनकी पहचान की गई थी। मिसाल के तौर पर, सदफ जफर याद करती हैं कि जब लखनऊ में परिवर्तन चौक पर एक शांतिपूर्ण सभा चल रही थी, अचानक दंगाई वहां पहुंच गए। उन सभी ने एक जैसी टोपी और कैफिया पहना हुआ था। उन्होंने दो छोरों पर पथराव और आगजनी शुरू कर दी, जबकि तीसरे छोर पर पुलिस बैरिकेडिंग थी। सदफ ने पुलिस से अपील की कि वह बदमाशों में से एक को पकड़ ले क्योंकि वह करीब आ गया था, लेकिन पुलिस बेपरवाह खड़ी रही। शांतिपूर्ण सभा में शामिल कुछ लोगों ने उसे पकड़ लिया और उसे पुलिस को सौंप दिया, लेकिन पुलिस ने उसके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की।

मेरठ में, प्रदर्शनकारियों पर पुलिस गोलीबारी और दमन को उचित ठहराने के लिए यह खबर फैलाई गई थी कि प्रदर्शन कर रहे लोगों ने इस्लामाबाद पुलिस चौकी को तोड़ दिया था और आग लगा दी थी। जब अधिवक्ता अकरम और अन्य लोग चौकी में सत्यापन करने के लिए पहुंचे, तो उन्होंने पाया कि उक्त इमारत ताजा ही रंगी गई थी और चौकी की कांच की खिड़कियां तक सुरक्षित थीं वहां किसी तोड़फोड़ के निशान नहीं थे। तथ्य का पता लगाने वाली टीम को स्थानीय लोगों ने बताया कि कुछ स्टेनरी और फाइलें चौकी के एक कोने में भाजपा नेता लक्ष्मीकांत बाजपेयी और उनके साथियों द्वारा जला दी गई थीं ताकि पुलिस की बर्बरता को वैधता देने के लिए एक कहानी बनाई जा सके। स्थानीय डॉक्टरों ने बताया कि पुलिस द्वारा गोली पहले चलाई गई थी और इस आगजनी का मंचन बाद में किया गया। वीडियो साक्ष्यों में बसों पर पथराव करते ऐसे लोगों को पहचाना गया है जो पुलिस के लिए मुखबिर का काम करते हैं। इसी तरह स्थानीय वाल्मीकि समाज को भाजपा मुसलमानों के खिलाफ लामबंद कर रही है और शांतिपूर्ण प्रदर्शनकारियों को उकसाने के लिए उन पर पथराव इन्हीं से कराया गया था।

पश्चिमी उप्र में, राज्य सरकार ने 'पुलिस-मित्र' के रूप में भर्तियों की हैं। इन लोगों को किसी भी विज्ञापन, योग्यता, नियमों और विनियमों के बिना भर्ती किया जाता है, संभवतः विभिन्न स्थितियों में पुलिस की सहायता करने के लिए। इन 'पुलिस-मित्रों'

को लाठियां, बिल्ला, जैकेट, आईडी कार्ड जारी किए गए हैं। रिपोर्टों के अनुसार पुलिस को लोगों की संपत्ति को नष्ट करने, हिंसा करने और तोड़फोड़ करने में इन लोगों ने पुलिस का साथ दिया। तथ्य-खोजी टीमों ने सुना कि मुजफ्फरनगर में, 'आधी-वर्दीधारी' लोग (नागरिक कपड़ों में, लेकिन पुलिस जैकेट और हेलमेट पहने हुए) संपत्ति नष्ट करने के लिए घरों में घुस गए।

फिरोजाबाद में स्थानीय कार्यकर्ताओं ने बताया कि पुलिस के साथ सादे कपड़ों में लोग थे जो अपने चेहरे ढके हुए थे। वे संभवतः इस पुलिस-मित्र समूह का हिस्सा थे। यह ध्यान देने योग्य है कि, जबकि स्थानीय मीडिया और पुलिस ने 'हिंसक प्रदर्शनकारियों' की इस धारणा को खूब फैलाया।

### गोलियां चलाने वाली पुलिस हिंसा में बढ़ोत्तरी

मुजफ्फरनगर का एक टेम्पो चालक नूर मोहम्मद 20 दिसंबर को गलती से प्रदर्शन वाली सड़क पर आ गया था। पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर फायरिंग शुरू कर दी। वह जान बचाने के लिए टेंपो छोड़कर भागा लेकिन पुलिस की गोली का शिकार हो गया। उसके परिवार में गर्भवती पत्नी और दो साल की बेटी हैं। वह परिवार का अकेला रोटी जुटाने वाला था। मेरठ, मुजफ्फरनगर, संभल, फिरोजाबाद, बिजनौर, कानपुर, गोरखपुर, और कई अन्य शहरों में पुलिस ने फायरिंग किया।

मेरठ में 28 वर्षीय मोहसिन को सीने में गोली लगी, जहीर (40 वर्ष) को गोली उनकी एक आंख में घुस गई, 23 वर्षीय अलीम के सिर में गोली लगी, आसिफ (20 वर्ष) गोली उसके सीने में लगी, 33 वर्षीय आसिफ की पीठ पर एक गोली लगी। संभल में 31 वर्षीय बिलाल के निचले होंठ के नीचे गोली लगी, शहरोज (19 वर्ष) को पेट में गोली लगी। मुजफ्फरनगर में नूरा (25 वर्ष) को छाती पर मारा गया। फिरोजाबाद में 19 वर्षीय मुक्रेम को पेट में मारा गया, 27 वर्षीय राशिद को सिर पर गोली लगी, अरमान (24 वर्ष) को सीने में गोली लगी, हारून को जबड़े में गोली लगी, शफीक (39/40 वर्ष) को कान के पास मारा गया।

पुलिस ने संवेदनहीन तरीके से आंसू गैस के तुरंत बाद रबर की गोलियों या पानी की तोपों का

उपयोग किए बिना सीधे आग्नेयास्त्रों का सहारा लिया। पुलिस ने भीड़ पर कमर से ऊपर गोलियां चलाई। मुजफ्फरनगर में तो आचार-संहिता के खिलाफ पहले गोलियां चलाई गईं और बाद में कम घातक उपाय अपनाए गए। पश्चिमी उप्र में मारे गए सभी 16 मुस्लिम श्रमिक वर्ग के परिवारों के युवक हैं। उनके लगभग सभी परिवारों ने कहा कि वे जुलूस का हिस्सा नहीं थे, वे गलत समय पर गलत जगह पर थे। गोली लगने से उनकी मौत हो गई। 16 में से 14 को कमर से ऊपर की तरफ-छाती, चेहरे, सिर, गर्दन पर गोलियां लगीं।

### पुलिस द्वारा नफरत वाली भाषा का इस्तेमाल

पुलिस द्वारा की गई हिंसा की इन सभी घटनाओं में (सड़कों पर, घरों के अंदर या हिरासत में) एक सामान्य बात है, वह है धार्मिक घृणा से भरी हुई अभद्र भाषा का लगातार और जानबूझकर इस्तेमाल। सांप्रदायिक नफरत वाले शब्दों का इस्तेमाल पुलिस और उसके सहयोगियों द्वारा भीड़ से हिंसक प्रतिक्रियाओं को भड़काने के लिए किया गया था। कई स्थानों पर पुलिस ने हिंदू भीड़ को मुस्लिम दुकानों और घरों को जलाने तथा लूटने के लिए प्रोत्साहित किया, राजी किया और कुछ मामलों में तो मजबूर किया।

फिरोजाबाद में पुलिस ने प्रदर्शनकारियों का हिंदू बहुल इलाकों की सड़कों पर पीछा किया और हिंदू दर्शकों से कहा, "हम हिंदू हैं, तुम भी हिंदू हो, मारो!" उन्होंने आगे यह कहते हुए स्थानीय हिंदू समुदाय को उकसाया कि "ये तो मियां भाइयों को हमारे हिंदू भाइयों ने मुंह लगा रखा है, वरना इनकी औकात नहीं है कि ये कुछ बोलें।" इसके अलावा, पुलिस के शब्द थे, "हमें अभी दो घंटे दिए गए हैं, अगर दो दिन दे दिए जाते तो हम इन्हें बता देते कि हम कौन हैं।"

20 दिसंबर को मेरठ में पुलिस अधीक्षक अखिलेश नारायण सिंह, वर्दी में मुसलमानों को धमकी देते हुए कैमरे में कैद हुए। उन्होंने ऐसे वाक्यों का प्रयोग किया जैसे "कहां जाओगे? मैं इस गली को ठीक कर दूंगा।" और "ये जो काली पट्टी और नीली पट्टी बांध रहे हो, उन्हें कह दो पाकिस्तान चले जाएं। देश में अगर नहीं रहने का मन है तो चले जाओ भइया... खाओगे यहां, गाओगे कहीं और। ये गली मुझे

याद हो गई है, और जब मुझे याद हो जाता है तो मैं नानी तक पहुंच जाता हूँ।... एक-एक घर के एक-एक आदमी को जेल में भर दूंगा मैं।... मैं उन्हें बरबाद कर दूंगा।” उस दिन पुलिस की गोलीबारी में छह मजदूर वर्ग के लोग मारे गए थे।

अभद्र भाषा का उपयोग पुलिस, आरएफ और सहयोगियों द्वारा उस समय बड़े पैमाने पर किया गया था जब वे व्यक्तियों और उनके घरों पर हमला कर रहे थे। आमतौर पर ‘कठमुल्ला’, ‘जिहादी’ और ‘पाकिस्तानी’ जैसे शब्दों का इस्तेमाल किया जाता था। मुजफ्फरनगर में लोगों के घरों में हमलों के हमलावर पुलिस ने उन्हें कहा “तुम लोगों के घर छोड़ने के बाद हम लोग तुम्हारे घरों में रहेंगे।”

### अंधाधुंध गिरफ्तारियां

22 वर्षीय आमिर (बदला हुआ नाम) संभल का रहने वाला है। उसे एक बस स्टैंड से उठाया गया था जहां वह अपने दोस्तों के बारे में पूछताछ करने गया था। उसको साथ लेकर पुलिस उनके घरों में गई, तोड़-फोड़ की और अन्य लड़कों को गिरफ्तार किया। उन्हें धनारी पुलिस स्टेशन ले जाया गया। उनके किसी भी रिश्तेदार को वहां पर उनसे मिलने की इजाजत नहीं दी गई, बल्कि उन्हें गिरफ्तारी और हिरासत की धमकी दी गई। आमिर की बहन ने सूचना दी कि उसे हिरासत में बेरहमी से पीटा गया है और दो लाख 63 हजार रुपए की रिकवरी का नोटिस दिया गया है।

पुलिस ने तर्क दिया है कि उन्होंने लोगों की पहचान करने के लिए विरोध प्रदर्शन से वीडियो फुटेज का इस्तेमाल किया है। उन्होंने विरोध प्रदर्शन खत्म होने के काफी समय बाद लोगों को घरों और सड़कों से उठा लिया। कई मामलों में परिवारों को नहीं पता था कि लोगों को कहां हिरासत में रखा गया है। इस तरह की घटनाओं में सामूहिक गिरफ्तारी का यह एक महत्वपूर्ण पहलू है। पुलिस द्वारा पर्याप्त समय के लिए कोई ठोस जानकारी उपलब्ध नहीं कराई जाती है, और इस प्रकार किसी कानूनी सहायता के बिना जेल में बंद कर दिया जाता है, क्योंकि उनकी गिरफ्तारी उनके परिवारों को भी नहीं पता है।

### संपत्ति पर हमला

आरएफ और उग्र पुलिस के साथ-साथ ‘पुलिस-मित्र’ ने पूरे राज्य में संपत्ति का व्यापक विनाश किया। कुछ मामलों में, उन्होंने सड़कों पर निजी वाहनों और दुकानों पर हमला किया, दूसरे मामले में, उन्होंने मुस्लिम नागरिकों के घरों में प्रवेश किया और सब कुछ नष्ट कर दिया। तथ्य-खोजी टीमों और मुजफ्फरनगर, मेरठ और कानपुर के प्रमाणों से पता चलता है कि स्ट्रीट लाइट बंद होने के बाद पुलिस और आरएफ ने सड़कों पर संपत्तियां नष्ट कर दीं। मुजफ्फरनगर में यह रात में लगभग साढ़े दस बजे किया गया जब उन्होंने मस्जिदों, घरों और दुकानों में प्रवेश किया। मेरठ में स्ट्रीट लाइटों को बंद करने के साथ-साथ पुलिस ने सीसीटीवी कैमरों और अन्य चीजों को भी नष्ट कर दिया है जो संभावित रूप से उन्हें फंसा सकते थे। मुजफ्फरनगर में पुलिस द्वारा संपत्ति को नष्ट करने की सबसे बड़ी कार्रवाई की गई। स्थानीय लोगों ने तथ्य-खोजी टीम को बताया कि 20 दिसंबर, 2019 की रात को, कुछ 250-300 आरएफ और पुलिस के जवान उपद्रव करने और स्थानीय लोगों को आतंकित करने के लिए इलाके में घुस आए। सादे कपड़ों और चेहरे ढके लोगों के साथ पुलिस मुस्लिम-विरोधी नारे लगा रही थी और बार-बार तंज कसे जा रही थी, “तुम्हें आजादी चाहिए? ये लो आजादी।”

हर्ष मंदर ने टिब्यूनल को गवाही दी कि मुजफ्फरनगर में एक-एक घर में उन्होंने देखा कि पुलिस ने खुद घरों में घुसकर संपत्ति, फ्रिज, क्रॉकरी, कटलरी, हर चीज को नष्ट कर दिया था। दर्जीवाली गली में एक घर और सरवत रोड पर दो घर, पुलिस और आरएफ के जवानों द्वारा पूरी तरह से रौंद दिए गए थे। दर्जीवाली गली में एक मस्जिद का लोहे का बड़ा गेट, बिजली का मीटर और खिड़कियों के शीशे पूरी तरह से चकनाचूर कर दिए गए थे। टूटे हुए पुलिस के डंडे और एक नीली आरएफ वर्दी टोपी अभी भी घरों में पड़ी हुई थी, साथ ही परिवारों के नष्ट हुए निजी सामान भी।

तथ्य खोजने वाली टीम ने एक जूता व्यापारी के घर का दौरा किया जो पुलिस द्वारा पूरी तरह से नष्ट कर दिया गया था। उन्होंने तथ्य खोज टीम को बताया कि 20

दिसंबर की रात को लगभग 50-60 पुलिस कर्मियों ने मुख्य द्वार को तोड़ दिया और उनके घर में घुस गए। घर के मालिक उस समय मौजूद एकमात्र पुरुष सदस्य थे और तीन अन्य महिलाएं थीं। घर के अंदर हमने प्रचंड बर्बरता और संपत्ति के विनाश का दृश्य देखा। उनकी मारुति कार (डिजायर) और चार स्कूटर पूरी तरह से तोड़ दिए गए थे और शौचालय, वॉश बेसिन, फर्नीचर, आलमारी, क्रॉकरी, पंखे, कूलर, फ्रिज, लाइट, वॉशरूम के प्लंबिंग पाइप, और दीवार हैंगिंग सहित अंदर सब कुछ बिखर गया था। इस बुजुर्ग व्यक्ति को लाठियों से बेरहमी से पीटा गया और महिलाओं को मारा गया। पीड़ितों का दावा है कि पुलिस ने उनकी पोती की शादी के लिए घर में रखी सारी नकदी और गहने चुरा लिए।

### नागरिकों के खिलाफ न्याय प्रणाली का हथियार

वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक, कानपुर, अनंत देव ने कहा कि “विभिन्न शहर क्षेत्रों में 21,500 लोगों के खिलाफ कम से कम 15 एफआईआर दर्ज की गई हैं और 13 को अब तक गिरफ्तार किया गया है।” “अज्ञात दंगाइयों” के खिलाफ इस तरह की अनाम एफआईआर पुलिस द्वारा ऐतिहासिक रूप से समुदाय को आतंकित करने और मनमाने ढंग से गिरफ्तारी या नजरबंदी को सही ठहराने के लिए इस्तेमाल की जाती रही है। यह पुलिस प्रशासन को आम लोगों को फंसाने, डराने और आतंकित करने के लिए पर्याप्त गुंजाइश देता है। यह समुदाय द्वारा महसूस किए जा रहे डर और असुरक्षा की भावना का एक बड़ा कारण है। हर वारदात के लिए एक अलग एफआईआर होनी चाहिए। और फिर उस मामले को किसी एक अन्वेषक को आवंटित किया जाता है। उग्र में जो हो रहा है, वह यह है कि सभी मामलों को एक में जोड़ दिया जा रहा है और एक व्यक्ति को दे दिया जा रहा है।

### समुदाय और परिवार को धमकाना

परिवार के ऊपर और समुदाय में उत्पन्न सामान्य भय तो था ही, इसके अलावा पुलिस ने डराने-धमकाने के लिए बहुत ही



लक्षित दृष्टिकोण अपनाया है और इसलिए समुदाय के अधिकारों को और अधिक सीमित कर दिया है। कई तथ्यों को खोजने वाली टीमों के वकील और सदस्य सुरूर मंडेर ने ट्रिब्यूनल में गवाही दी कि जब पुलिस के खिलाफ कानूनी संहारा लेने का प्रयास किया गया, तो स्थानीय वकीलों और समुदायों पर राज्य प्रशासन द्वारा जिस तरह का दबाव डाला गया वह बेहद स्पष्ट था। उसने बताया कि कई कानूनी पेशेवरों, विशेष रूप से वरिष्ठ अधिवक्ताओं को राज्य द्वारा समझौता करने के लिए कहा गया है। उनका उपयोग, खासकर जहां मौतें हुई हैं वहां समुदायों पर दबाव डालने के लिए भी किया जाता रहा है, ताकि लोग उन मामलों में हस्तक्षेप न करें।

पुलिस के खिलाफ कानूनी कार्रवाई को रोकने के इरादे से परिवारों को भी धमकाया गया है। पुलिस ने यह सुनिश्चित करने के लिए कई रणनीतियों का सहारा लिया है कि पुलिसकर्मियों को किसी भी तरह से किसी भी मौत या घायल के मामले में किसी भी तरह से उत्तरदायी न बनाया जाए।

फिरोजाबाद में, जब वे घटना स्थल पर पहुंचे, तो उन्हें रशीद का शव जमीन पर मिला, जो तीन अन्य शवों के बगल में पड़ा था, जिनमें से एक आठ वर्षीय लड़के का शव भी था। जब वे शव को फिरोजाबाद अस्पताल ले गए, तो डॉक्टर ने तुरंत कहा कि वह पुलिस की गोली से घायल हुआ है। पुलिस के दबाव के कारण, राशद के शरीर का पोस्टमार्टम नहीं किया गया। शव को उठाकर अस्पताल ले जाने और फिर उनके घर ले जाने में पुलिस परिवार के साथ-साथ ही रही। उन्होंने परिवार पर दबाव डाला कि वह उसको रात में ही दफनाए। पुलिस भी परिवार के साथ गई और रात में शव को दफन करा दिया। उन्होंने परिवार को सख्त हिदायत दी कि वे किसी को भी न बुलाएं, पड़ोसियों तक को नहीं। मेरठ में मृत्यु के सभी मामलों में, परिवारों को शरीर को तुरंत दफनाने के लिए समान रूप से दबाव डाला गया था, और लगभग हमेशा, उन्हें शव को अपने इलाके में या दफन करने के पारंपरिक स्थान पर ले जाने की अनुमति नहीं दी क्योंकि पुलिस को डर था कि यह आगे के तनाव को उकसा सकता है। ■

## नियुक्तियां

# बनारस शहर और बीएचयू का जातिवाद

प्रमोद कुमार बर्णवाल

**ई**-मेल, फेसबुक और वाट्सएप्प चेक करना - आज के समय में, एक आवश्यक कार्य की तरह - हमारी-आपकी दिनचर्या में शामिल हो चुका है। नौ फरवरी, 2020 को इन पंक्तियों के लेखक ने जब अपना ई-मेल चैक किया, तो सुखद आश्चर्य से भर गया। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय (बीएचयू), वाराणसी के संयुक्त रजिस्ट्रार/आरएसी की तरफ से 12:45 पीएम पर एक ई-मेल भेजा गया था। यह वह ई-मेल था, जिसका इंतजार इस खाकसार को कई वर्षों से था।

बीएचयू के हिंदी विभाग में दो कोर्स चलते हैं- पहला, हिंदी साहित्य में एमए और दूसरा, प्रयोजनमूलक हिंदी (पत्रकारिता) में एमए। हिंदी विभाग और हिंदी भाषा से संबंधित होने के बावजूद ये दोनों कोर्स अलग हैं। दोनों की प्रवेश परीक्षा अलग-अलग होती है; दोनों के पाठ्यक्रम भी अलग हैं।

मैंने बीएचयू से ही 2005-07 के सत्र में प्रयोजनमूलक हिंदी (पत्रकारिता) से स्वर्ण पदक के साथ, एमए की डिग्री प्राप्त की। एमए करने के बाद मेरी इच्छा हुई कि मैं आगे बीएचयू से ही पीएचडी करूं। लेकिन उन दिनों वर्ष 2007 में, प्रयोजनमूलक हिंदी (पत्रकारिता) से एमए करने के बाद पीएचडी करने की सोचना बहुत कठिन काम था। इसका कारण यह था कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग यानी यूजीसी, प्रयोजनमूलक हिंदी में नेट (राष्ट्रीय पात्रता परीक्षा) आयोजित नहीं करती; यह स्थिति आज भी बनी हुई है।

प्रयोजनमूलक हिंदी (पत्रकारिता) से एमए करने के बाद आगे उच्च शिक्षा में करियर बनाने के इच्छुक विद्यार्थियों के पास दो रास्ते बचते हैं। यूजीसी की नियमावली के अनुसार, अगर किसी विषय में नेट की परीक्षा नहीं होती है, तो उस विषय से मिलते-जुलते विषय से नेट की परीक्षा दी जा सकती है। हमारे कोर्स में चूंकि

‘हिंदी’ शब्द लगा हुआ है, इसलिए यूजीसी के नियमानुसार कोई विद्यार्थी हिंदी साहित्य से नेट की परीक्षा दे सकता है या फिर कोर्स में ‘पत्रकारिता’ शब्द लगा होने के कारण ‘जर्नलिज्म एंड मास कम्युनिकेशन’ में नेट की परीक्षा दी जा सकती है। लेकिन प्रयोजनमूलक हिंदी (पत्रकारिता) से एमए का पाठ्यक्रम, हिंदी साहित्य से बिल्कुल अलग है; इसी तरह से ‘जर्नलिज्म एंड मास कम्युनिकेशन’ के भी सारे विषय इसमें नहीं पढ़ाए जाते। कहने के लिए तो प्रयोजनमूलक हिंदी (पत्रकारिता) ऐसा कोर्स है, जिसे करने के बाद दो विषयों से नेट की परीक्षा दी जा सकती है; किंतु सिलेबस अलग होने के कारण इस विषय से परास्नातक करने वाला विद्यार्थी न इधर का रहता है, न उधर का।

बीएचयू से पीएचडी करने का एक तरीका और है - उन दिनों, बीएचयू में कॉमन रिसर्च इंटेस टेस्ट (सीआरईटी) की परीक्षा आयोजित होती थी; इसे पास करने के बाद, नेट किए बिना पीएचडी में नामांकन मिल जाता था। लेकिन सीआरईटी में भी यही स्थिति थी कि प्रवेश परीक्षा में सवाल हिंदी साहित्य से आते थे। खैर, मैंने सीआरईटी का फॉर्म भरा और प्रवेश परीक्षा की तैयारी शुरू की, लेकिन... वर्ष 2007 और फिर अगले वर्ष 2008 में भी, मेरा नामांकन बीएचयू में नहीं हो पाया।

इसी बीच एक घटना घटी, जिसने हमें सोचने पर मजबूर कर दिया। बीएचयू के हिंदी विभाग में प्रयोजनमूलक हिंदी (पत्रकारिता) विषय में, लेक्चरर की तीन रिक्तियों के लिए विज्ञापन जारी हुआ। यह विज्ञापन इसलिए आश्चर्यजनक था क्योंकि तीनों सीटें ओबीसी के लिए आरक्षित थीं।... अगर हिंदी साहित्य में ओबीसी के लिए रिक्ति निकली होती तो

कई अभ्यर्थी मिल जाते; किंतु जिस विषय में नेट की परीक्षा होती हो, न पीएचडी की; उसमें कैं डिडेट, वह भी ओबीसी का, मिलना लगभग असंभव ही था। मालूम नहीं, उस समय कितने लोगों ने इन रिक्तियों के लिए फॉर्म डाले! लेकिन बीएचयू में इन रिक्तियों को लेकर कुछ समय तक सुगबुगाहट जारी रही, फिर बंद हो गई।

हमने यही अनुमान लगाया कि बीएचयू को इन रिक्तियों के लिए योग्य उम्मीदवार नहीं मिले होंगे; लेकिन जो भी हो, इस घटना के पीछे एक साजिश की बू आ रही थी...।

प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता विषय में तीन पदों की रिक्ति के लिए विज्ञापन बाद में भी दो-तीन बार जारी हुए। हर बार तीन सीटें निकलतीं - तीनों की - तीनों सीटें ओबीसी के लिए ही आरक्षित रहतीं। अभ्यर्थियों से आवेदन आमंत्रित किए जाते, लेकिन कोई परीक्षा आयोजित नहीं की जाती। हम कुछ विद्यार्थियों के मन में इन रिक्तियों के विज्ञापन को लेकर, कुछ संदेह उत्पन्न हुआ। हमने आपस में विचार-विमर्श किया, और इस नतीजे पर पहुंचे कि अगर ऐसे ही प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता में ओबीसी वर्ग के लिए रिक्तियां निकलती रहें; और हर बार कोई उम्मीदवार नहीं मिला, तो फिर वह दिन दूर नहीं जब विश्वविद्यालय 'नॉट फाउंड सुटेबुल ओबीसी कैं डिडेट' का तमगा लगा कर इन रिक्तियों को सामान्य वर्ग के लिए जारी कर दे। हमारा संदेह निराधार नहीं था...। बीएचयू में पढ़ाई करते हुए, हम बनारस की सामाजिक स्थिति से थोड़ा-बहुत परिचित होने लगे थे।

इसी दौरान कुछ घटनाएं घटीं, जिसने बनारस के सामाजिक ढांचे को और भी नजदीक से समझने में मदद की। वर्ष 2006 या 7 की बात होगी। उन्हीं दिनों बनारस स्थित संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने एक बात को लेकर हंगामा खड़ा कर दिया था। हंगामे का कारण किसी युवती की संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय में नियुक्ति होनी थी। युवती किस जाति की थी, इसकी जानकारी नहीं है, लेकिन वह ब्राह्मण नहीं थी, शायद ओबीसी से थी।

संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने गैर-ब्राह्मण अध्यापिका से

संस्कृत पढ़ने से इंकार कर दिया। उन्होंने उसकी कक्षा का बहिष्कार कर दिया। उन्हें वहां के कुछ प्रोफेसरों का वरदहस्त भी प्राप्त था, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। उस समय, *आउटलुक* पत्रिका में इस संबंध में एक विस्तृत आलेख भी छपा था। फिर बाद में, उस अध्यापिका का क्या हुआ, मुझे इसकी जानकारी नहीं है। अभी साल 2019 के अंतिम महीनों में, बीएचयू में संस्कृत विषय में किसी मुस्लिम युवक की सहायक प्रोफेसर के पद पर नियुक्ति हुई, तब भी यहां के स्वर्ण मानसिकता वाले व्यक्तियों ने इसी तरह का हंगामा खड़ा किया। बीएचयू में अब तक जितने भी वीसी, विभागाध्यक्ष और डीन हुए हैं; अगर उनकी सूची देखी जाए, और इस संबंध में अध्ययन किया जाए, तो बीएचयू में फैली जाति-व्यवस्था और स्वर्णवादी मानसिकता को और भी अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

बीएचयू और बनारस में उस समय, और आज भी एक-दो विशेष जाति (ब्राह्मण और ठाकुर) के लोगों का ही प्रभाव बना हुआ है। इनमें भी अधिकतर प्रोफेसर ब्राह्मण ही हैं। अनुसूचित जाति-जनजाति के लोग मुश्किल से, इक्का-दुक्का की संख्या में हैं। हिंदी विभाग में वर्तमान समय में अधिकतर प्रोफेसर ब्राह्मण वर्ग से हैं, उसके बाद ठाकुर हैं, जबकि ओबीसी वर्ग से एक भी अध्यापक नहीं है। बनारस में जाति-व्यवस्था को नजदीक से समझना हो तो इसका बहुत बड़ा जरिया यहां पर पिछले कई दशकों से मंचित हो रही 'रामनगर की रामलीला' है। बनारस में गंगा नदी के दूसरी ओर रामनगर बसा हुआ है, जहां कई मंचों पर प्रत्येक वर्ष रामलीला आयोजित की जाती है। इस रामलीला की खूबी है कि इसमें भाग लेने वाले अधिकांश लोग ब्राह्मण वर्ग से आते हैं। अगर आप इसमें कोई किरदार अभिनीत करना चाहते हैं, तो आपकी सबसे बड़ी योग्यता आपका ब्राह्मण वर्ग से होना है।

बनारस में जाति-व्यवस्था बेहद दृढ़ स्थिति में है। यहां रहते हुए, यह बात कई बार शिद्दत से महसूस हुई। मैं जब 'बिड़ला' हॉस्टल में रह रहा था, उन दिनों प्रोफेसर महेश प्रसाद अहिरवाल हमारे वार्डन हुआ करते थे। कई स्वर्ण विद्यार्थी पीठ पीछे उनका नाम घृणा से लेते, वे जातिसूचक शब्द का प्रयोग करते, उन्हें गाली देते। मेरी कक्षा में एक विद्यार्थी था: तेजभान राम। हम दोनों एक-दूसरे के मित्र बन

गए थे। लेकिन कई बार हमारे सामने सोचनीय स्थिति बन जाती, जब हमारी ही कक्षा में पढ़ने वाला एक स्वर्ण विद्यार्थी, तेजभान को अनुसूचित जाति का होने के कारण 'चमार' जैसे शब्द से संबोधित करता। तेजभान इसका विरोध करता, लेकिन ब्राह्मण जाति का वह विद्यार्थी उसके विरोध पर विचार किए बिना, जब-तब उसे नीचा दिखाने की कोशिश करता रहता। यह स्थिति बीएचयू से एमए करने के दौरान बनी रही।

बीएचयू में एमए का प्रथम वर्ष पूरा होने के बाद, सभी विद्यार्थियों को हॉस्टल खाली करना पड़ता है। फिर अगला सेमेस्टर शुरू होने पर, हॉस्टल आवंटित होता है। हमें भी पहला वर्ष समाप्त होने पर हॉस्टल खाली करना पड़ा। हमने बीएचयू के बाहर कमरा खोजना शुरू किया। इस दौरान हम लोगों ने एक बात महसूस की। अधिकांश मकान-मालिक कमरा देने से पहले बहुत ही सहज भाव से हमारी जाति के बारे में सवाल कर बैठते, मानो उनके यहां कमरा पाने की सबसे बड़ी योग्यता यही हो; ऐसी स्थिति में हम अक्सर असहज हो जाते। न चाहते हुए भी, हमें अपनी जाति बतानी पड़ती।

बीएचयू में हमारे एमए के दौरान एक और घटना घटी। एक बार हमारे हिंदी विभाग में कोई जापानी महिला आई। मुझे अब उनका नाम विस्मरण हो चुका है। लेकिन कुछ कारणों से उनका स्मरण अब भी बना हुआ है। जापानी महिला बहुत ही सहज तरीके से हिंदी बोलना जानती थी। उन्हें हिंदी में पढ़ना-लिखना भी आता था। उनकी हिंदी साहित्य में विशेष रुचि थी। वह बनारस घूमने आई थीं। हिंदी साहित्य में रुचि के कारण, उनकी इच्छा बीएचयू के हिंदी विभाग को देखने की थी। इसी इच्छा के वशीभूत होकर वह हमारे विभाग में आई थी। उस समय मेरी एमए की कक्षा चल रही थी; मुझे जब उस जापानी महिला के, हिंदी विभाग में आगमन की खबर मिली, तो मैं उनके बारे में जानने को उत्सुक हो गया। मैं उनसे जाकर मिला। उनसे मिलने का समय मांगा। वह अस्सी स्थित एक होटल में ठहरी हुई थीं; उन्होंने हमें शाम में होटल के रिसेप्शन पर मिलने के लिए बुलाया।

मैं और तेजभान, अपनी कक्षा से खाली होकर, शाम में उनसे मिलने होटल पहुंचे। जापानी महिला समय की बेहद पाबंद थी,

उनसे मिलकर हमने यह महसूस किया। हम लोगों ने थोड़ी देर तक बातचीत की। बातचीत के दौरान पता चला कि उस महिला ने हिंदी के कई साहित्यकारों को पढ़ रखा है। हिंदी के कृष्ण बलदेव वैद उनके प्रिय लेखक हैं। कृष्ण बलदेव वैद की *उसका बचपन*, जापानी महिला की प्रिय पुस्तक है। उन्हें यह पुस्तक इतनी अच्छी लगी कि उन्होंने इसका अनुवाद जापानी भाषा में किया। जापानी महिला ने हम लोगों से सवाल किया कि क्या हमने कृष्ण बलदेव वैद को पढ़ा है? क्या हमने *उसका बचपन* पढ़ा है? उस समय तक मैंने कृष्ण बलदेव वैद की कोई रचना नहीं पढ़ी थी, मुझे उनके सामने 'न' कहते हुए शर्म महसूस हुई। मैंने किसी तरह संकोच के साथ 'न' कहा, और तय किया कि *उसका बचपन* खरीदकर जरूर पढ़ूंगा। मैंने बाद में *उसका बचपन* पुस्तक खरीदी और उसे पढ़ा।

जापानी महिला ने, बहुत ही संकोच के साथ हमलोगों से एक बात कही। हिंदी विभाग में कुछ समय बिता लेने के बाद, या फिर हो सकता है पहले से ही किसी सूत्र से सुनकर, उन्होंने कुछ अनुमान लगा लिया हो; पता नहीं किस सूत्र से उन्होंने कहा, लेकिन जो कहा वह विचारनीय है, उन्होंने कहा- बीएचयू में ब्राह्मण जाति का वर्चस्व है। इसके बाद उन्होंने बड़े संकोच के साथ, बहुत ही विनम्रता से, जानने की इच्छा से, हमसे हमारा वर्ग पूछा। हमने उन्हें अपना वर्ग ओबीसी और एससी बताया। वह इस पर बेहद आश्चर्यचकित रह गई।

साल 2009 मेरे लिए सुखद रहा। इसका कारण यह था कि बीएचयू में इसी साल से प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता से पीएचडी की पढ़ाई शुरू हुई। मैंने जी-जान से तैयारी की और परिणाम मेरे मन मुताबिक आया। मेरा नामांकन शोध में हो गया। मैंने 2015 में अपनी पीएचडी पूरी की। मेरी पीएचडी के दौरान भी प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता की तीन सीटों के लिए ओबीसी आरक्षित रिक्तियां निकलीं। उम्मीदवारों से आवेदन पत्र आमंत्रित किए जाते, लेकिन साक्षात्कार आयोजित नहीं किया जाता। मैंने 2015 में अपनी पीएचडी की थीसिस जमा की। इस तरह से बीएचयू के इतिहास में प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता से पीएचडी करने वाले पहले विद्यार्थी के रूप में मेरा नाम

दर्ज हो गया; यह मेरे लिए व्यक्तिगत रूप से बेहद खुशी और गर्व की बात रही। मेरे बाद कई विद्यार्थियों ने अपनी पीएचडी की थीसिस जमा की और प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता की डिग्री हासिल की। अब कई विद्यार्थी हो गए, जिनके पास प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता में पीएचडी की डिग्री थी। कुछ विद्यार्थियों के पास पीएचडी की डिग्री होने के बाद, प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता की तीन सीटों के लिए ओबीसी आरक्षित रिक्तियां पुनः निकलीं। अब कई विद्यार्थियों ने इसके लिए फॉर्म डाले, लेकिन कोई साक्षात्कार नहीं हुआ।

साल 2019 की बात है। जून के महीने में बीएचयू ने कुछ रिक्तियों के लिए विज्ञापन निकाला। इसमें प्रयोजनमूलक हिंदी के लिए भी विज्ञापन था; लेकिन इस बार बात कुछ और थी। हमारा संदेह सही साबित हुआ था। प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता की ओबीसी के लिए आरक्षित तीन रिक्तियों को रद्द कर, पद को सामान्य वर्ग के लिए कर दिया गया था। प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता के एक पद के लिए विज्ञापन जारी किया गया था।

इधर पिछले कई वर्षों से, विभिन्न विश्वविद्यालयों में हिंदी साहित्य के सहायक प्रोफेसर के लिए गिने-चुने विज्ञापन ही निकल रहे हैं। कई योग्य उम्मीदवार गेस्ट प्रोफेसर के रूप में अपनी सेवा देकर किसी तरह से जी-खा रहे हैं। एमए और फिर पीएचडी कर लेने के बाद, जब युवाओं के सामने रोजी-रोटी का कोई रास्ता नहीं दिखता, तो वे निराशा और गहरे अवसाद से पीड़ित हो जाते हैं। ऐसा नहीं है कि रिक्तियां नहीं हैं, विभिन्न विश्वविद्यालयों में कई पद खाली पड़े हैं; पहले के कई प्रोफेसर सेवानिवृत्त हो चुके हैं, लेकिन पता नहीं क्यों सरकार बहाली नहीं कर रही। प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता से एमए करने वालों की स्थिति तो और भी खराब है, क्योंकि इसकी पढ़ाई बीएचयू के अलावा गिनी-चुनी जगहों पर ही होती है। इसलिए तीन पद ओबीसी के लिए निकले, इसकी बजाय पद इस तरह से विज्ञापित किए जाएं कि सभी को आवेदन करने के मौके मिले; अगर इतना होता तब भी गनीमत होती, लेकिन असली खेल इससे आगे शुरू होने वाला था...।

खैर, साल 2019 में बीएचयू के हिंदी विभाग और महिला महाविद्यालय में हिंदी

साहित्य में सहायक प्रोफेसर के लिए कुछ पदों के विज्ञापन निकले। लिंग्विस्टिक और प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता के लिए भी विज्ञापन जारी हुए। मैंने पहले भी बीएचयू में सहायक प्रोफेसर पद की रिक्ति के लिए आवेदन फॉर्म डाला था; इस बार पुनः आवेदन किया, यह सोचते हुए कि पता नहीं बीएचयू इस बार भी साक्षात्कार आयोजित करेगा या नहीं। इसलिए मैंने जब नौ फरवरी, 2020 को, अपने ई-मेल पर बीएचयू के संयुक्त रजिस्ट्रार/आरएसी का संदेश देखा, तो सुखद आश्चर्य से भर गया। ई-मेल पर इस बात की सूचना थी कि बीएचयू की साइट पर शॉर्टलिस्ट कैंडिडेट की सूची डाल दी गई है। मैंने बीएचयू की साइट चेक की। बीएचयू प्रशासन ने एक पीडीएफ फाइल अपलोड की थी, जिसमें योग्य और अयोग्य अभ्यर्थियों की सूची दर्ज थी। किस अभ्यर्थी को कितना एपीआई (अकादमिक परफोरमेंस इंडिकेटर) मिला है, इसकी सूचना भी थी और किसके फॉर्म को किस कारण से निरस्त कर दिया गया, इसका उल्लेख भी था। इसमें साक्षात्कार की संभावित तिथि 12-15 बताई गई थी। शॉर्टलिस्ट अभ्यर्थियों की सूची में मेरा भी नाम था, इसलिए मैं प्रसन्न था, मैंने साक्षात्कार की तैयारी करनी शुरू कर दी।

12 फरवरी को बीएचयू से एक और ई-मेल आया। जिसमें साक्षात्कार के लिए बुलावा पत्र भेजा गया था। बीएचयू की साइट पर एक पीडीएफ फाइल अपलोड की गई थी। इस फाइल में कुछ जरूरी सूचनाएं दी गई थीं; जैसे- एक पद की रिक्ति के लिए, दस लोगों को या फिर शॉर्टलिस्ट योग्य उम्मीदवारों में से 20 प्रतिशत को, इनमें से जो भी ज्यादा हो, उन्हें बुलावा पत्र भेजा जा रहा है। चूंकि प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता में दस अभ्यर्थी ही योग्य पाए गए थे। इसलिए दसों अभ्यर्थियों को बुलावा पत्र भेज दिया गया था। इसमें इस बात की भी सूचना थी कि 17-20 फरवरी तक साक्षात्कार की प्रक्रिया चलेगी। प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता के लिए साक्षात्कार 20 को आयोजित किया जाएगा। इससे पहले हिंदी साहित्य के सामान्य और ओबीसी पदों के लिए साक्षात्कार आयोजित किए जाएंगे।

बीएचयू में 17 फरवरी से साक्षात्कार शुरू

हो गया। जैसा कि नियम है, सहायक प्रोफेसर के साक्षात्कार के लिए बाहर से विषय विशेषज्ञ बुलाए जाते हैं और उनका नाम गुप्त रखा जाता है; यहां भी यही प्रक्रिया अपनाई गई। हम अनुमान लगाते रहे कि हिंदी के साक्षात्कार के लिए कौन-कौन आ सकते हैं। बीएचयू का हिंदी विभाग भारत ही नहीं, बल्कि विदेशों में भी अपनी प्रतिष्ठा रखता है; इसलिए हम उम्मीद लगा रहे थे कि जरूर दिग्गज विद्वानों को ही साक्षात्कार के लिए आमंत्रित किया गया होगा, लेकिन 17 फरवरी को पूरी जानकारी मिली, तो हम दंग रह गए। विषय विशेषज्ञों की सूची देखिए- प्रो. सच्चिदानंद चतुर्वेदी (अध्यक्ष, हैदराबाद विश्वविद्यालय), प्रो. कुमुद शर्मा (हिंदी, दिल्ली विश्वविद्यालय), प्रो. राजश्री शुक्ला (हिंदी, कोलकाता विश्वविद्यालय)। हिंदी के क्षेत्र में, लिखने-पढ़ने वाले दिग्गज नामचीन विद्वानों की कोई कमी नहीं है; लेकिन साक्षात्कार में ऐसे लोगों को बुलाया गया, जिनके बारे में सोचने पर भी स्मरण नहीं आता कि इन्होंने अब तक पता नहीं क्या लिख मारा है। एक बात और, इन विद्वानों के नामों पर ध्यान दें- क. चतुर्वेदी, ख. शर्मा, ग. शुक्ला।... ये उसी वर्ग से आते हैं, जिनकी तरफ कुछ वर्षों पहले एक जापानी महिला ने संकेत किया था। इनके बारे में मान लिया गया है कि विद्वता इनके पास ही है। सभी विद्वान एक ही वर्ग के हैं, लेकिन कहीं भी जातिवाद की बू महसूस नहीं होगी। अब एक दूसरा काल्पनिक बोर्ड बनाकर देखिए, तीनों-के-तीनों विशेषज्ञ किसी एक ही ओबीसी जाति से हों। मान लें तीनों विशेषज्ञ यादव जाति से हों, तो फिर... क्या होगा? हंगामा मच जाएगा। या फिर तीनों विशेषज्ञ कुशवाहा या पटेल या कुर्मी जाति से हों, तब भी हंगामा मचेगा। या फिर तीनों मुस्लिम समुदाय से हो न... न... इसकी तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। या फिर एक संतुलन रखते हुए एक काल्पनिक विशेषज्ञों का पैनल इस प्रकार से हो-- (क). यादव, (ख). कुशवाहा, (ग). अब्दुल। या फिर तीन दलित प्रोफेसरों की सूची-- तुरंत ही पूरे विश्वविद्यालय में हंगामा मच जाएगा। लोगों को अजीब लगने लगेगा। जातिवाद महसूस होने लगेगा। लेकिन तीन ब्राह्मणों के विशेषज्ञों के बोर्ड में रहने के बाद भी पैनल जातिवादी नहीं, बल्कि प्रगतिशील ही कहलाएगा।

बात यहीं तक रहती तो कुछ और बात होती; लेकिन 20 फरवरी को जो कुछ हुआ, उसकी कल्पना इन पंक्तियों के लेखक ने पहले कभी नहीं की थी। मैं जब 20 तारीख को साक्षात्कार देने के लिए पहुंचा, तो देखा कि वहां पर प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता के लिए पहले से घोषित दस लोगों के अलावा और भी कई लोग आए हैं। मैं आश्चर्यचकित रह गया। पूछने पर पता चला कि बीएचयू की साइट पर 18 तारीख की शाम को 17 और लोगों की सूची जारी की गई है। बीएचयू की साइट पर पहले जो पीडीएफ फाइल डाली गई थी, उसमें जिन लोगों को साक्षात्कार के लिए अपात्र पाया गया था, उनकी पूरी सूची कारण सहित दर्ज थी। 18 तारीख को साइट पर डाली गई पीडीएफ फाइल में इनमें से 17 लोगों को अब पात्र समझ लिया गया था। लेकिन पहले जिन कारणों से इन्हें अपात्र समझा गया था, उसे नजरअंदाज करना बहुत मुश्किल है। इसका कारण निम्न सूची को देखकर आसानी से समझा जा सकता है -

नई संशोधित सूची जिस तरह से जारी की गई, वह कई सवाल खड़े करती है। उपर्युक्त सूची में क्रम संख्या 11 के नरसिंहम वीएल शिवकोटि की शैक्षणिक योग्यता को छोड़ दिया जाए, तो कोई भी उम्मीदवार न्यूनतम योग्यता के मानक को पूरा नहीं करता। हिंदी साहित्य और प्रयोजनमूलक हिंदी का पाठ्यक्रम अलग है। अतः इनकी नियुक्ति भी अलग-अलग आई थी, दोनों विषयों के लिए अलग-अलग पोस्ट कोड थे। हिंदी साहित्य के लिए 30364 और प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता के लिए 30366; इसके अलावा नियमानुसार, चूंकि एक पद की रिक्ति के लिए दस एवं अधिक-से-अधिक 20 प्रतिशत लोगों को ही साक्षात्कार के लिए बुलाया जा सकता है; और पहले से ही साक्षात्कार के लिए दस लोगों को बुलाया जा चुका था, ऐसे में 17 लोगों को अचानक बुला लेना संदेहास्पद जान पड़ता है।

| क्र.सं. | नाम                          | आवेदन आईडी  | नियुक्ति टिप्पणी   |
|---------|------------------------------|-------------|--|
| 1.      | शशांक शुक्ल                  | 30366000015 | प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता में स्नातकोत्तर की डिग्री नहीं                                    |
| 2.      | अरुणाकर पांडेय               | 30366000022 | -वही-  |
| 3.      | जिनो पी. वर्गाज              | 30366000021 | -वही-  |
| 4.      | अर्चना कुमारी                | 30366000010 | -वही-  |
| 5.      | राजेश कुमार                  | 30366000026 | -वही-  |
| 6.      | विवेक सिंह                   | 30366000036 | -वही-  |
| 7.      | महेश सिंह यादव               | 30366000003 | -वही-  |
| 8.      | गणेश शंकर श्रीवास्तव         | 30366000033 | -वही-  |
| 9.      | पूजा झा                      | 30366000013 | -वही-  |
| 10.     | शिवम शर्मा                   | 30366000041 | -वही-  |
| 11.     | नरसिंहम वी.एल. शिवकोटि       | 30366000030 | प्रयोजनमूलक हिंदी (अनुवाद) में एमए/प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता में स्नातकोत्तर की डिग्री नहीं |
| 12.     | राजेश कुमार मिश्र            | 30366000028 | प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता में स्नातकोत्तर की डिग्री नहीं                                    |
| 13.     | साईनाथ विट्ठल चापले          | 30366000051 | -वही-  |
| 14.     | अनूप निरंजन                  | 30366000020 | -वही-  |
| 15.     | ब्रिजेंद्र कुमार अग्निहोत्री | 30366000014 | -वही-  |
| 16.     | अमित कुमार पांडेय            | 30366000047 | -वही-  |
| 17.     | हिमांशु शेखर सिंह            | 30366000027 | -वही-  |

तीसरी बात, साक्षात्कारकर्ताओं की जानकारी विश्वविद्यालय द्वारा हमेशा से ही गुप्त रखी जाती है; लेकिन 17 फरवरी से साक्षात्कार शुरू हो चुका था और अब उनका नाम गुप्त नहीं रह गया था, ऐसे में साक्षात्कार शुरू होने के एक दिन बाद एक नई सूची जारी करना संदेह पैदा करता है।

चौथी बात, 18 फरवरी को जो संशोधित सूची जारी की गई, उनमें कुछ नाम ऐसे भी थे, जिनका साक्षात्कार उसी दिन होना था। बीएचयू देश-विदेश में प्रतिष्ठित केंद्रीय विश्वविद्यालय है, जहां भारत और वहां से बाहर तक के लोग भी आवेदन करते हैं। अब ऐसे में मान लिया जाए कि असम या तमिलनाडु में रहने वाले किसी अभ्यर्थी ने यहां पर आवेदन किया, तो वह उसी दिन साक्षात्कार के लिए कैसे पहुंचेगा? यह संदेह काल्पनिक नहीं है, उस दिन 20 तारीख को मैं जब साक्षात्कार के लिए पहुंचा, तो पूछने पर यह जानकारी मिली कि 18 तारीख को जारी सूची में से कुछ लोग उस दिन साक्षात्कार में नहीं पहुंचे थे, सवाल उठता है कि आखिर ऐसा कैसे हुआ? क्या ऐसा जान-बूझकर किया गया?

पांचवीं बात, संयुक्त रजिस्ट्रार की ओर से नौ फरवरी को, अभ्यर्थियों को जो ई-मेल भेजा गया था, उसमें सुधारों के लिए साफ-साफ 11 फरवरी तक का समय दिया गया था। अगर किसी उम्मीदवार की तरफ से योग्यता को लेकर कोई आपत्ति आई थी, तो चयनित सूची जारी करने से पहले ही इसे जल्द-से-जल्द सुधार कर जारी किया जाना चाहिए था; आखिर क्या कारण है कि नई सूची जारी करने के लिए 18 तारीख तक रुका गया?

छठी बात, यदि कुछ अभ्यर्थियों ने इस बात को लेकर आपत्ति की थी कि हिंदी और प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता दोनों एक-दूसरे से संबद्ध विषय हैं, तो फिर अन्य को भी साक्षात्कार के लिए आमंत्रित करना चाहिए था, जिन्होंने किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की थी।

इसके अलावा संशोधित सूची में जो नए नाम जोड़े गए थे, वे इसलिए भी संदेहास्पद थे, क्योंकि उनमें से एक

अभ्यर्थी हिंदी विभाग में ही नियुक्त एक प्रोफेसर के रिश्ते में भाई लगते हैं।

मैं उस दिन साक्षात्कार देने पहुंचा, तो एक और चीज देखकर हताश और निराश हुआ। साक्षात्कार बोर्ड में अभ्यर्थियों को मुश्किल से चार-पांच मिनट का समय दिया जा रहा था। जिस अभ्यर्थी ने अपने सात-आठ सुनहरे वर्ष एमए और पीएचडी में निवेश किए हों, आखिर उसके व्यक्तित्व को चार-पांच मिनट में कैसे जाना-समझा-परखा जा सकता है।

एक बात और, मैं जब व्यक्तिगत रूप से साक्षात्कार देने पहुंचा, तो कुछ अलग तरह के सवालों से घबड़ाया। मैं सवाल सुनकर अचकचा गया। ऐसा इसलिए क्योंकि मैं कुछ समझ नहीं पाया कि विशेषज्ञ मुझसे आखिर पूछ क्या रहे हैं। मैंने थोड़ी-बहुत हिंदी साहित्य पढ़ रखी है। अगर कोई मुझसे इससे संबंधित सवाल करे तो मैं भले ही जवाब न दे पाऊं, पर इतना तो जरूर समझ जाऊंगा कि मुझसे पूछा क्या जा रहा है। प्रयोजनमूलक हिंदी पत्रकारिता मेरा विषय है, इसलिए इससे संबंधित सवाल भी ज्यादा संभव है कि मेरी समझ में आ जाए; उनका जवाब मैं दे पाता हूँ या नहीं, यह दूसरी बात है। मुझे समझते देर नहीं लगी कि चूंकि एक ही बोर्ड के सामने हिंदी साहित्य, लिंग्विस्टिक और प्रयोजनमूलक हिंदी के अभ्यर्थी आ रहे हैं; इसलिए साक्षात्कारकर्ता भूलवश मुझसे लिंग्विस्टिक से संबंधित सवाल कर गया है। मैंने विनम्रता से साक्षात्कार बोर्ड के सामने उनके सवालों को लेकर आपत्ति की। उनसे आग्रह करते हुए कहा, “सर, मेरा अज्ञान अनंत है। इसलिए मुझसे वे ही सवाल किए जाएं, जिनका मैंने अध्ययन किया है। मुझसे मेरी पीएचडी से ही संबंधित सवाल किए जाएं।” इस पर साक्षात्कार बोर्ड में से एक विशेषज्ञ ने जो जवाब दिया, वह बहुत हताश करने वाला है। एक विशेषज्ञ ने मेरी पीएचडी का विषय पूछा। इससे पहले कि मैं अपना विषय बताता, दूसरे विशेषज्ञ ने मेरी पीएचडी का विषय बताया। इस पर पहले विशेषज्ञ ने कहा, “इससे कौन सवाल

करेगा, यहां कोई इस विषय का विशेषज्ञ नहीं है।”

जिस विश्वविद्यालय का देश-विदेश में नाम-सम्मान हो, उसके साक्षात्कार बोर्ड में बैठा व्यक्ति अगर इस तरह की बात करे, तो यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण बात है। लेकिन जो भी हो, 20 तारीख को बीएचयू में साक्षात्कार संपन्न हुआ। साक्षात्कार बोर्ड ने जिन्हें योग्य समझा होगा, उनके नामों की सूची लिफाफे में बंद कर दी। अब उस दिन का इंतजार करना पड़ेगा, जब दिल्ली में कार्यकारी परिषद की सभा में यह लिफाफा खुलेगा। अब उस दिन ही यह तय होगा कि आने वाले समय में, विश्व के सबसे पुराने हिंदी विभागों में से एक की स्थिति, भविष्य में क्या होने वाली है। कुछ समय पूर्व, एक जापानी विदुषी ने बीएचयू में जाति-व्यवस्था को लेकर जो टिप्पणी की थी, वह आगे भी कितना सच होने वाला है, इसका जवाब भविष्य के गर्भ में है। बीएचयू के भविष्य का जवाब भविष्य में ही अपेक्षित है। ■

## समयांतर

### भीम पुस्तक भंडार

ए लआईजी

335 - आरडीए कालोनी

इंदिरानगर

### जनचेतना

114, जनता मार्केट,

रेलवे बस स्टेशन रोड

गोरखपुर - 273009 (उ. प्र.)

मो. 09415462164

# मुक्ता साल्वे और ऐन फ्रैंक: साझे दर्द और मुक्ति के अलग-अलग रास्ते

मोहन आर्य

नाजियों और ब्राह्मणधर्मियों, दोनों की ही क्रूरता और अमानवीयता की कोई सीमा नहीं। इनके अत्याचारों की भयावहताओं को दुनिया के सामने उजागर करने वाले दस्तावेजों का विश्व के इतिहास में खास महत्व है, अजीब संयोग है कि यहूदियों पर नाजियों के अत्याचारों और ब्राह्मण धर्मियों द्वारा शूद्रों और अछूतों पर की गई क्रूरताओं का दस्तावेजीकरण अलग-अलग समय में लगभग एक ही उम्र की दो किशोरवय बच्चियों द्वारा बहुत ही दिलचस्प और प्रभावकारी अंदाज में किया गया है।

सभ्यताओं का ज्ञात इतिहास कमोबेश गैरबराबरी और शोषण का इतिहास रहा है लेकिन साथ ही शोषण के खिलाफ मनुष्य के तीव्र और निरंतर प्रतिरोध भी सभी सभ्यताओं के इतिहास में अपनी जगह बनाते रहे हैं और इतिहास को आकार देते रहे हैं। मनुष्यों के खास समूहों को इतिहास में कई बार आतताई और ताकतवर मनुष्य समूह ने मनुष्य से कमतर जीवन जीने को विवश किया है। जर्मनी के आर्य श्रेष्ठता में विश्वास रखने वाले नाजियों ने द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान योरोप भर के यहूदियों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया। भारत में भी हजारों सालों से ब्राह्मणधर्मियों ने शूद्रों और अछूतों को मनुष्यों से निम्न दर्जे पर रखा है। इन दोनों ही किस्म के अत्याचारों पर असंख्य पन्नों का साहित्य लिखा जा चुका है।

नाजियों और ब्राह्मणधर्मियों, दोनों की ही क्रूरता और अमानवीयता की कोई सीमा नहीं। इनके अत्याचारों की भयावहताओं को दुनिया के सामने उजागर करने वाले दस्तावेजों का विश्व के इतिहास में खास महत्व है, अजीब संयोग है कि यहूदियों पर नाजियों के अत्याचारों और ब्राह्मण धर्मियों द्वारा शूद्रों और अछूतों पर की गई क्रूरताओं का दस्तावेजीकरण अलग-अलग समय में लगभग एक ही उम्र की दो किशोरवय बच्चियों द्वारा बहुत ही

दिलचस्प और प्रभावकारी अंदाज में किया गया है। यह बात और है कि नाजियों के अत्याचारों की भयावहताओं को दुनिया के सामने लाने वाली ऐन फ्रैंक और उसकी डायरी *द डायरी ऑफ ए यंग गर्ल* को सारी दुनिया एक क्लासिक के रूप में जानती है। और ऐन फ्रैंक से लगभग 90 साल पहले ब्राह्मण धर्म के वीभत्स रूप को दुनिया के सामने लाने वाली भारत के वर्तमान महाराष्ट्र प्रांत की एक मांग (दलित) जाति की लड़की मुक्ता साल्वे आज भी दुनिया में ही नहीं बल्कि अपने देश में भी पहचान के लिए संघर्षरत है।

मुक्ता साल्वे को पहली दलित महिला लेखिका होने का गौरव प्राप्त है। उन्होंने 1855 में उस समय अपना विचारोत्तेजक निबंध लिखा जब कोई दलित लड़की तो क्या सभ्रांत सवर्ण परिवारों की अधिसंख्य लड़कियां भी पढ़ना-लिखना नहीं जानती थीं।

यह लेख इस बात की पड़ताल करने की कोशिश है कि मुक्ता साल्वे और ऐन फ्रैंक में उनकी उम्र के अलावा और क्या समानताएं हैं? उनका संघर्ष कैसे एक दूसरे से मिलता हुआ या एक दूसरे से अलग है? साथ ही हम यह भी समझने की कोशिश करेंगे की मुक्ता साल्वे को इतिहास में मानवीय गरिमा के पक्ष में निर्भीक और मजबूत आवाज के रूप में ऐन फ्रैंक का जैसा दर्जा हासिल क्यों नहीं हुआ।

ऐन फ्रैंक 1929 में नीदरलैंड में जन्मी एक यहूदी लड़की थी, 12 जून 1942 से 1 अगस्त 1944 के बीच, उन्होंने अपने जन्मदिन के उपहार में मिली डायरी लिखी। इसे विश्व के इतिहास में *द डायरी ऑफ ए यंग गर्ल* के नाम से जाना जाता है। दूसरे विश्व युद्ध में नाजी जर्मनी द्वारा नीदरलैंड पर कब्जा कर लिए जाने के बाद यह नहीं यहूदी लड़की अपने परिवार के सदस्यों के साथ दो साल तक छिप कर रही। इस दौरान उन्होंने डायरी लिखी। लेकिन अंततः उन्हें जर्मन सैनिकों द्वारा पकड़कर एक बंदी शिविर में डाल दिया गया जहां 15 साल की उम्र में टाइफस बीमारी से ऐन फ्रैंक की मौत हो गई। अगर वह बीमारी से नहीं मरती तो दो सप्ताह बाद ही ब्रिटिश सैनिकों द्वारा अन्य युद्ध बंदियों के साथ छोड़ा जाती।

सन् 1947 में ऐन फ्रैंक के पिता ऑटो फ्रैंक ने ऐन की डायरी को प्रकाशित करवाया और देखते ही देखते यह डायरी विश्व क्लासिक बन गई। मूलतः डच भाषा में लिखी गई इस डायरी का दुनिया भर की 60 से अधिक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

शिक्षाविद और इतिहासकार इस डायरी का इस्तेमाल प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री के स्रोत के रूप में करते हैं।

एक समझदार, भावुक और अपनी उम्र (वह 1942 में केवल 13 वर्ष की थी) के अनुसार असाधारण लेखिका की डायरी युद्ध की भयावहता, नस्लीय उत्पीड़न और भेदभाव को एक मासूम लेकिन गजब की संवेदनशील बच्ची के दृष्टिकोण से सामने लाती है।

इसी के समानांतर लगभग एक सदी पहले, 1841 में भारत के वर्तमान महाराष्ट्र प्रांत में एक मांग दलित परिवार में पैदा हुई मुक्ता साल्वे, जो जोतिबा फुले और सावित्रीबाई फुले द्वारा स्थापित स्कूल में पढ़ती थी, ने 1855 में एक निबंध लिखा जो कि दो भागों में अहमदनगर से निकलने वाली पत्रिका *ज्ञानोदय* में छपा। इस निबंध को *ज्ञानोदय* के शताब्दी अंक, जो 1942 में वी पी हिवले के संपादन में प्रकाशित हुआ था, में दुबारा प्रकाशित किया गया।

इस निर्भीक असाधारण दलित महिला लेखिका के जीवन में आगे क्या हुआ, क्या उन्होंने कुछ और लिखा? इसका कोई रिकॉर्ड नहीं मिलता, लेकिन जिस सुस्पष्टता,

तार्किकता और निर्भीकता के साथ मुक्ता का लेखन दिखाई देता है, यह आशंका भी बलवती होती है कि कहीं उनके साथ कुछ अप्रिय ना हो गया हो। क्या उन्हें डरा दिया गया था या कुछ और बहुत अप्रिय हुआ था, हम नहीं जानते लेकिन 13- 14 साल की उम्र में उन्होंने जिस समझ और तेवर के साथ लिखा है, वह एक जलती हुई मशाल की मानिंद दिखाई देता है जो अपने आप तो नहीं बुझ सकती है। वह लिखती हैं:

“ ओ विद्वान् ब्राह्मणो अपनी खोखली बुद्धि की स्वार्थी बकवास को किनारे रखो और जो मैं कह रही हूँ उसे सुनो ”

( संदर्भ: *विमेन राइटिंग इन इंडिया*, 600 बी सी टु अर्ली 20 एथ से चुरी खंड 1, संपादक: सुसी थारू, के ललिता, पृ 9: 215 )

जहां एक तरफ मुक्ता साल्वे का लेखन कि सी मजबूत हथौड़े की चोट की तरह बिलबिला देने वाला है, वहीं दूसरी तरफ ऐन फ्रैंक का दो साल की अवधि के दौरान किया गया लेखन लेखिका के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को सामने लाने वाला है। बहुत ही दिलचस्प और मोहक अंदाज में एक किशोरी के रोजमर्रा के जीवन की छोटी-छोटी बातों को, साधारण चीजों को, बहुत ही बारीक विवरणों के साथ पूरी मासूमियत लेकिन गहरी समझदारी के साथ ऐन फ्रैंक सामने रखती हैं। दूसरी तरफ मुक्ता साल्वे जिस पीड़ा का जिक्र करती हैं वह किसी खास समय की पीड़ा नहीं वह एक सनातन कैद है। यह कोई युद्ध नहीं है जो किसी न किसी समय अंततः समाप्त हो जाएगा। यह समूचा जीवन है सदियों से चला आ रहा अनवरत जीवन।

ऐन की डायरी के जिन हिस्सों में युद्ध और नस्लभेद की विभीषिका का स्पष्ट जिक्र नहीं वहां ऐसा बिल्कुल नहीं लगता यह एक संभावित युद्ध बंदी का आतताइयों की हिंसा और उनके अत्याचार पर लिखा गया दस्तावेज है। इस डायरी में प्रेम है, युवा होती एक मासूम लड़की की यौनिकता का निश्चल विवरण है, यौन झुकाव है, लड़कों की बातें हैं, सजीला किशोर प्रेमी है उसके साथ बिताए हुए अंतरंग पल हैं, साथ ही लेखिका की असाधारण रुचियों का भी जिक्र है। उसे सबसे अधिक पसंद है इतिहास, जो कि उसकी उम्र के

अनुसार एक चौंकाने वाली बात लगती है। लेकिन डायरी के सबसे खौफनाक और प्रभावकारी वो हिस्से हैं जहां इस मासूम बच्ची ने युद्ध की विभीषिका और नस्लीय उत्पीड़न का जिक्र किया है। वह लिखती हैं:

“ मई 1940 के बाद अच्छा समय कभी-कभार ही रहा, पहले युद्ध हुआ, फिर आत्मसमर्पण और उसके बाद जर्मन आ गए तभी से यहूदियों के लिए परेशानी शुरू हो गई है, यहूदी विरोधी कानूनों के कारण हमारी आजादी पर कड़ी रोक लगा दी गई। यहूदियों को पीला सितारा लगाना होता था, यहूदियों को साइकिल पर चलना होता है, उन्हें ट्राम पर चढ़ने की मनाही थी, वह कार में नहीं बैठ सकते चाहे वह उनकी अपनी ही क्यों न हो, उन्हें तीन बजे से पांच बजे के बीच ही अपनी खरीदारी करनी होती थी, उन्हें रात आठ बजे से सुबह छह बजे तक सड़कों पर चलने की मनाही थी, वह थिएटर नहीं जा सकते थे या किसी मनोरंजन की जगह पर नहीं जा सकते थे, उन्हें स्विमिंग पूल, टेनिस कोर्ट्स, हॉकी या अन्य खेल के मैदानों का इस्तेमाल करने की सख्त मनाही थी। ईसाइयों के घर नहीं जा सकते थे यहूदियों को सिर्फ यहूदी स्कूल जाना होता था, आप यह नहीं कर सकते आप वह नहीं कर सकते, लेकिन जिंदगी चलती रही, जैक मुझे हमेशा कहती ?, मेरी कुछ भी करने की हिम्मत नहीं होती क्योंकि मुझे डर लगता है कहीं उस पर भी पाबंदी ना हो ”

( डायरी ऑफ यंग गर्ल पृ. 14 -15 )

इसी तरह ब्राह्मण धर्म में अंतर्निहित भेदभाव को उजागर करती हुई मुक्ता साल्वे कहती हैं:

“ सुनो बता रही हूँ कि हम मनुष्यों को गाय-भैंसों से भी नीच माना है इन लोगों ने, जिस समय बाजीराव का राज था उस समय हमें गधों के बराबर माना जाता था। आप देखिए लंगड़े गधे को भी मारने पर उसका मालिक भी उसकी ऐसी तैसी के बिना नहीं रहेगा, लेकिन मांग महारों को मत मारो ऐसे कहने वाला भला एक भी आदमी नहीं था। उस समय मांग महार गलती से भी तालीमखाने के सामने से यदि गुजर जाए, गुल पहाड़ी के मैदान में उनके सर को काटकर उसकी गेंद बनाकर और तलवार से बल्ला बनाकर खेला जाता था। ”

( संदर्भ: ‘ दलित लेखिका मुक्ता साल्वे की वेदना और आक्रोश ’ सिद्धार्थ रामू, *फॉरवर्ड प्रेस* का ऑनलाइन लेख, 14 फरवरी 2020 )

मुक्ता अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों के स्रोत के रूप में, ब्राह्मण धर्म की शिनाख्त करती हैं मुक्ता का लेखन तार्किक, और बहुत ही तीव्र चोट करने वाला है उक्त निबंध के पहले हिस्से में मुक्ता कहती हैं:

“ यदि कोई ब्राह्मणों के तर्क का वेदों के आधार पर खंडन करने का प्रयास करे तो यह पेटू लोग जो अपने आपको हमसे उच्च मानते हैं, और हमसे घृणा करते हैं, तर्क देते हैं कि वेद केवल उनके अपने लिए ही हैं, अगर यह वेद केवल ब्राह्मणों के लिए ही हैं तो यह तय है कि वह हमारे लिए बिल्कुल भी नहीं हैं ” ( *विमेन राइटिंग इन इंडिया*, वही )

ऐन फ्रैंक के अनुभवों में मुक्ता साल्वे के अनुभवों की तरह ऐतिहासिक निरंतरता नहीं बल्कि ऐतिहासिक तात्कालिकता है, लेकिन उनके अनुभव भी बेहद डरावने हैं। नौ अक्टूबर 1942 के दिन फ्रैंक लिखती हैं:

“ प्यारी किटी ( किटी उनकी डायरी को दिया गया का नाम है ) मेरे पास बताने के लिए केवल निराशाजनक और उदास बातें हैं। हमारे बहुत से यहूदी दोस्तों और परिचितों को झुंडों में ले जाया जा रहा है। गेस्टापो यानी नाजी पार्टी की खुफिया पुलिस उनके साथ बहुत बुरा बर्ताव कर रही है। और उन्हें मवेशियों के ट्रक में लादकर ड्रेंथ के बड़े शिविर वेस्टरबर्क ले जा रहे हैं... वहां लोगों को खाने के लिए ना के बराबर मिलता है और उससे भी कम पानी हजारों लोगों के लिए केवल एक शौचालय सिंक हैं... स्त्री-पुरुष एक ही कमरे में सोते हैं, महिलाओं और बच्चों के सिर मुंडवा दिए जाते हैं वहां से बचकर निकलना नामुमकिन है ”

( *डायरी ऑफ यंग गर्ल*, पृष्ठ-51 )

कई जगहों पर ऐन का लेखन पाठक को चमत्कृत कर देता है: “ प्यूहरर सिपाहियों से बात करते हैं। हमने रेडियो पर सुना और हम सब की स्थिति बहुत दयनीय थी, प्रश्नोत्तर कुछ इस तरह से थे...

- मेरा नाम हेनरिक शेप है।
- आप कहां घायल हुए ?
- स्टालिनग्राद के पास।
- यह कैसा घाव है ?

- दोनों पैरों में फ्रास्ट बाइट है और बाई बांह टूट गई है।

रेडियो पर चलाए गए घिनौने कठपुतली नाटक में यही सब था। घायल अपने घावों को लेकर इतने खुश थे कि वह जितने ज्यादा हो उतना अच्छा। एक तो प्यूहरर से हाथ (मैं मान रही हूँ कि उसके पास वह है) मिलाने के ख्याल से ही इतना प्रभावित था कि एक भी शब्द नहीं बोल पाया”

(द डायरी ऑफ ए यंग गर्ल, पृ.: 83)

“मैं मान रही हूँ कि उसके पास वह (हाथ) है,” हिटलर के लिए ऐसी शब्दावली का इस्तेमाल एक मासूम बच्ची के द्वारा किया जाना वाकई चमत्कृत कर देने वाला है। इस तरह के कई प्रसंग डायरी में समय-समय पर आते रहते हैं जहां पर ऐन की समझ, उसकी भाषा और उसका अंदाज उसे एक असाधारण लेखिका ठहराता है।

दूसरी तरफ ब्राह्मण वर्चस्व के खोखलेपन को उजागर करते हुए इसी तरह की उलाहना मुक्ता साल्वे भी अपने चुनौतीपूर्ण स्वर में देती है: “सोवले अंग वस्त्र को परिधान कर नाचने वाले इन लोगों का हेतु मात्र इतना ही है अन्य लोगों से पवित्र हैं ऐसा मानकर वे चरम सुख की अनुभूति भी करते हैं लेकिन हम से बरती जाने वाली छुआछूत से, हम पर बरसने वाले दुखों से इन निर्दयी लोगों के अंतःकरण नहीं पिघलते”

(‘पहली दलित लेखिका मुक्ता साल्वे की वेदना और आक्रोश’ सिद्धार्थ रामू, फॉरवर्ड प्रेस)

मुक्ता साल्वे का लेखन हालांकि उनके एकमात्र निबंध के रूप में मिलता है लेकिन वह भारतीय जाति व्यवस्था की जटिलता को बहुत गहराई से उद्घाटित करता है। ऐन फ्रैंक के लेखन में जहां जर्मन और यहूदियों का द्वैध है जिसमें एक युद्ध विजेता है दूसरा युद्ध बंदी, वहीं मुक्ता साल्वे स्तरीकृत असमानता और अन्याय पर आधारित एक पूरी प्रणाली को सामने लाती है जिसमें उन्होंने यह भी उद्घाटित किया है कि, कैसे पेशवा के संपर्क में आने से महार जाति के दलित जो की मांग जाति के दलितों की तरह ही अछूत हैं, स्वयं को मांग लोगों से उच्च समझने लगे हैं। वह लिखती हैं: “लेकिन महार, जो कि मांगों से

कम अछूत नहीं है, उसकी (पेशवा की) खूबियों को उसके संपर्क से अपनाकर आपको मांगों से श्रेष्ठ समझने लगे हैं” (विमन राइटिंग इन इंडिया, पृष्ठ 215)

मुक्ता साल्वे का लेखन जाति व्यवस्था की जटिलताओं को बड़े स्पष्ट तरीके से सामने लाता है। 13- 14 साल की किशोरी के लेखन में इस तरह की परिपक्वता देखना चौंकाने वाली है।

ऐन फ्रैंक और मुक्ता साल्वे दोनों इस बात को लेकर स्पष्ट हैं कि उन्हें आतताइयों द्वारा उनकी जमीन और संसाधनों से बेदखल कर दिया गया है। और दोनों ही ब्रिटिशों को उम्मीद भरी नजरों से देखती हैं। यह बात दीगर है कि, ऐन फ्रैंक ब्रिटिश सेना और मित्र राष्ट्रों की सेना से उम्मीद करती है और मुक्ता साल्वे को ब्रिटिशों में आधुनिक शिक्षा एवं अछूतों के लिए अवसरों का संसार दिखाई देता है।

यह बात सही है कि ऐन फ्रैंक का लेखन साहित्यिक भाषा, शैली, विषयों की विविधता और वर्णन के लिहाज से मुक्ता के लेखन की तुलना में व्यापक बहुरंगी और मोहक है। इसका एक कारण उनके लेखन की लंबी अवधि भी है, साथ ही ध्यान देने लायक है कि ऐन फ्रैंक और मुक्ता साल्वे दोनों का ही लेखन मानवीय गरिमा और आधुनिक प्रगतिशील मूल्यों को स्थापित करने वाला है।

अंततः प्रश्न यह है कि है कि ऐन फ्रैंक का लेखन तो ना केवल साहित्य के क्षेत्र में बल्कि ऐतिहासिक सामग्री के प्रमाण के रूप में भी दुनिया भर में अपनी ख्याति अर्जित कर चुका है लेकिन मुक्ता साल्वे उसके अपने देश में ही अज्ञानी है ऐसा क्यों हुआ ?

इस सवाल के जवाब में कुछ समझ में आने लायक बातें सामने आती हैं-

दूसरे विश्व युद्ध में जिस पक्ष के उत्पीड़न की शिकार ऐन फ्रैंक हुईं वह पक्ष युद्ध में हार गया, वह विचार हार गया, कमोबेश लोकतंत्र की जीत हुई और विजयी लोगों ने युद्ध की विभीषिकाओं को दर्ज करने वाले तमाम दस्तावेजों को सार्वजनिक किया।

मुक्ता साल्वे के मामले में उनके दस्तावेज तो, भले ही काफी समय बाद दुनिया के सामने आए लेकिन वह विचार जिसके उत्पीड़न की शिकार मुक्ता साल्वे हुईं, जिसके खिलाफ

उन्होंने शिक्षा को औजार बनाने की बात कही, वह विचारधारा अभी हारी नहीं, हालांकि उसके खिलाफ संघर्ष लगातार जारी है लेकिन उस उत्पीड़क ब्राह्मणवादी व्यवस्था का शिकंजा अब भी इतना कसा हुआ है कि वह अपने खिलाफ उठने वाली आवाजों के प्रसारण को रोक देने अथवा सीमित कर देने की क्षमता रखता है, चूंकि ब्राह्मणवाद आज भी हावी है और सामाजिक जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में उसका कब्जा है, इसलिए मुक्ता साल्वे को उनका यथोचित स्थान नहीं मिल पाया है। संभवतः ब्राह्मणधर्म और उसके सामाजिक-सांस्कृतिक वर्चस्व के यातना शिविर से जब समाज पूरी तरह मुक्त हो जाएगा तब ही मुक्ता भी ऐन फ्रैंक हो जाएंगी और हम ऐन फ्रैंक को योरोप की मुक्ता साल्वे कह पाएंगे।

अच्छी बात यह है कि ब्राह्मणीय वर्चस्व के कसते शिकंजे के बावजूद हम उस दिशा में ही बढ़ रहे हैं जहां मुक्ता ब्राह्मणवाद को चुनौती देती हुई अपनी बुलंद आवाज के साथ इतिहास में अपनी वाजिब जगह बना रही हैं। वह अपने से नब्बे साल छोटी अपनी हमउम्र और हमखयाल विदुषी सहेली से विश्व और मनुष्यता की समस्याओं पर चर्चा करने को तैयार हैं। ■

## मुंबई में समयांतर

### मे. पीपुल्स बुक हाउस

मेहर हाउस

5-कावसजी पटेल स्ट्रीट, फोर्ट

## रांची में समयांतर

ज्ञान दीप पुस्तक भंडार

ए च. बी. रोड,

निकट फिराया लाल चौक

रांची (झारखंड) - 834002



# ‘राजतंत्र को अंदर ही अंदर कब्जा लिया गया है’

एजाज अहमद से जिप्सन जॉन और जितीश पी. एम. की बातचीत

मैं हमेशा जोर देता हूँ कि सेकुलरवाद के प्रति वास्तविक प्रतिबद्धता हमेशा भारतीय समाज और राजनीति में किसी अल्पसंख्यक की स्थिति से तय होती थी, अब देख ही लीजिए कि भारतीय समाज का कितना ज्यादा हिंदूकरण हो गया है, किस प्रकार सांप्रदायिकता भाजपा और इसके सहयोगियों के पक्ष में सदैव शानदार चुनावी विभाजन को बढ़ावा देती है, और कैसे चुनाव आयोग और उच्च न्यायपालिका समेत भारत के सभी प्रमुख संस्थानों की साख मिटाई जा रही है और कैसे ये भाजपा के हितों की अधिकाधिक पूर्ति में सेवारत हैं।

एजाज अहमद भारतीय मूल के मार्क्सवादी चिंतक और आधुनिक इतिहास, राजनीति और संस्कृति के ख्यातिप्राप्त अंतरराष्ट्रीय सिद्धांतकार हैं। उन्होंने भारत, कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका के विभिन्न विश्वविद्यालयों में पढ़ाया है और वर्तमान में केलिफोर्निया विश्वविद्यालय, इर्विन के तुलनात्मक साहित्य विभाग में विशिष्ट (डिस्टिंग्विश) प्रोफेसर के रूप में सेवारत हैं, जहां वह आलोचना सिद्धांत पढ़ाते हैं।

इस साक्षात्कार का एक बड़ा हिस्सा हिंदुत्ववादी सांप्रदायिकता, फासीवाद, सेकुलरवाद और भारतीय संदर्भ में वाम की संभावनाओं से संबद्ध है। अन्य हिस्सों में वह वैश्वीकरण, वाम के वैश्विक आयातों, अंतोनियो ग्राम्शी के विचारों के उपयोग और दुरुपयोग, और हमारे समय में कार्ल मार्क्स की प्रासंगिकता पर चिंतन करते हैं। यह साक्षात्कार भारत के गत वर्ष के आम चुनावों से पहले लिया गया और चुनाव परिणामों के आने के बाद अद्यतन किया गया था।

एजाज अहमद तर्क करते हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) और भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) समेत इसके विभिन्न धड़े विशिष्ट फासीवादी चरित्र प्रदर्शित करते हैं लेकिन भारतीय राज्य उदारवादी खेल के नियमों से ही लगातार चल रहा है, और इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि भारत के उदारवादी संस्थान कितने ही खोखले हो गए हों। वह इस प्रस्थापना को विशिष्ट सैद्धांतिक दृष्टि के साथ स्थापित करते हैं।

एजाज अहमद का विश्वास है कि लोकतंत्र और उदारवाद में आधारभूत अंतर्विरोध हैं लेकिन वह कहते हैं कि इस प्रकार का कोई अंतर्विरोध अति दक्षिणपंथी शासन और राज्य के उदारवादी संस्थागत रूप के बीच लागू नहीं होता है। उदारवाद लोकतंत्र को कमतर बनाता है और अति दक्षिणपंथ को मजबूत करता है। यही कारण है कि अमेरिका, इजरायल, तुर्की, भारत और इसी प्रकार के दूसरे देशों की एक पूरी श्रृंखला में अति दक्षिणपंथी ताकतें उदारवादी संस्थानों के जरिए ही शासन करने में सक्षम हैं।

वह यह भी मानते हैं कि फासीवाद के सवाल को उन दो बहुत ही भिन्न चौखटों में रखकर देखे जाने की भी जरूरत है जो अक्सर आपस में उलझ जाते हैं। इन सैद्धांतिक चौखटों में से एक में फासीवाद को एक आम प्रवृत्ति के रूप में देखा जा सकता है जो स्थायी होती है और जो साम्राज्यवादी काल के दौरान पूंजीवादी बुर्जुआ राजनीति के हर रूप में अंतर्निहित होती है। उदाहरण के लिए पूरे योरोप में फासीवादी प्रवृत्ति प्रदर्शित करने वाली असंख्य राजनीतिक पार्टियां उदारवादी / नवउदारवादी पूंजीवादी शासन के तहत सफलतापूर्वक काम करती हैं।

किंतु इस संदर्भ का ज्यादा संकुचित (कठोर) चौखटा है – पूर्ण फासीवादी आंदोलन और दोनों विश्वयुद्धों के बीच के काल की अति विशिष्ट परिस्थितियों में उभरने वाले जर्मनी, इटली या स्पेन जैसे राज्य। वर्गीय शक्तियों का संतुलन उन देशों में इस प्रकार था कि कामगार वर्ग के बहुत ताकतवर क्रांतिकारी आंदोलनों के विरुद्ध युद्ध जैसी हिंसा छेड़ी जा सकने से पहले राज्य के उदारवादी रूप की हत्या आवश्यक थी, कारण कि पूंजी का जो शासन होता है, उसे इन आंदोलनों से खतरा पैदा होता है। वस्तुतः एक सदी के किसी भी अन्य समय बिंदु की तुलना में कामगार वर्ग के आंदोलन आज कमजोर हैं। एक फासीवादी व्यवस्था आज अनावश्यक है। अति दक्षिणपंथ और उदारवादी तंत्र सफलतापूर्वक एक घृणास्पद गठजोड़ के अंतर्गत सह अस्तित्व में रह सकते हैं।

एजाज अहमद अंग्रेजी और उर्दू में लिखते हैं। उनके लेखन का अनुवाद चीनी, तुर्की, पुर्तगाली, कोरियन, फ्रांसीसी और अरबी में हुआ है। अंग्रेजी में लिखी गई उनकी कुछ पुस्तकें हैं – *गजल्स ऑफ गालिब* (न्यूयॉर्क, 1971; नई दिल्ली, 1994), *इन थ्योरी: क्लासेज, नेशंस, लिटरेचर्स* (लंदन, 1992; नई दिल्ली, 1995), *लिनेज्स ऑफ द प्रेजेंट: पोलिटिकल एसेज* (नई दिल्ली, 1996; लंदन, 2000), *ऑन कम्युनिज्म एंड ग्लोबलाइजेशन: ऑफेंसिव्स ऑफ द फार राइट* (नई दिल्ली, 2004) और *अफगानिस्तान, इराक एंड इंपेरिअलिज्म ऑफ ऑवर टाइम्स* (नई दिल्ली, 2004)।

मई, 2019 में नरेंद्र मोदी ने लोगों का जनादेश फिर जीत लिया। आप इस वापसी को कैसे देखते हैं? सत्ता में भाजपा की वापसी में सहयोग करने वाले मुख्य कारक कौन से हैं? आरएसएस-भाजपा के इस दूसरे कार्यकाल के तहत आप भारत के भविष्य को कैसा देखते हैं?

नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा ने निश्चय ही एक बहुत भारी चुनावी जीत हासिल की है। लेकिन क्या इसे 'जनादेश' कहा जा सकता है, यह बहुत संदेहपूर्ण है। लोगों का शासनादेश प्राप्त करने के लिए उन्हें सुस्पष्ट तथ्यों के आधार पर तार्किक राजनीतिक बहस का मौका देना पड़ता है, न कि चुप्पी की भाषा उन पर थोपने से काम चलता है। चुनाव लड़ने वाले राजनीतिक दलों को अपनी वैकल्पिक नीतियों की स्पष्ट घोषणा करनी पड़ती है। यहां तक कि अगर राजनीतिक दल तथ्यों के आधार पर तार्किक विकल्प पेश करने में चाहे सक्षम भी हों तो भी आज लोगों की उनमें से किसी तक पहुंच नहीं है क्योंकि भारत में कॉरपोरेट मीडिया विशेषतः संघी मशीनरी की पक्षधर है और सार्वजनिक शिष्टाचार और तथ्यों एवं नीतियों को लेकर निष्पक्ष समचार देने के प्रति आज प्रतिबद्ध नहीं है। एक लोकतांत्रिक कवायद जिसके द्वारा लोग अपना शासनादेश दे सकते हैं, वह इस प्रक्रिया में भाग लेने वाले सभी संस्थानों से विशेषतः चुनाव आयोग, सर्वोच्च न्यायिक तंत्र और कानून का निर्धारण कराने वाली एजेंसियों से नैतिक, संवैधानिक और कानूनी मापदंडों के सख्त अनुपालन की अपेक्षा रखती है। किंतु यह अनुपालन आज इस संदर्भ में शेष नहीं बचा है। एक समय हुआ करता था जब भारतीय राजनीति इन जनतांत्रिक मानकों का एक बहुत ही उल्लेखनीय बिंदु तक अनुपालन करती थी। लेकिन उस प्रकार का नागरिक समझौता अब कुछ दशकों से भारत में चुकता जा रहा है, साल दर साल यह (लोकतंत्र) अधिकाधिक भ्रष्ट होता जा रहा है। 'भ्रष्ट' से मेरा मतलब सिर्फ धन के अभूतपूर्व इस्तेमाल से नहीं है जो चुनावी परिणाम को निश्चित करने वाला स्वयं एक बड़ा कारक होता है। मेरा तात्पर्य तो जिसे लोकतांत्रिक प्रक्रिया कहा जा सकता है, उसके एक सम्मिलित क्षरण से है। ऐसा लगता है कि 2019 तक वह बिंदु रहा है जब चुनावी जीत के आकार और आधारभूत लोकतांत्रिक मानकों

के बीच का हर एक संबंध साथ-साथ ही गायब हो गए हैं।

भारतीय राजनीति का विस्मृत कर देने वाले बिंदु तक अमेरिकीकरण हो गया है। एक तरफ बड़े नेताओं - मसीहाओं, उद्धारकों की भक्ति, दूसरी तरफ भय और उन्माद का व्यवस्थित उत्पादन पूर्णतः मानक बन चुका है। आज की राजनीति सप्ताह में चौबीसों घंटे प्रसारित होने वाले टीवी चैनलों, जनमत सर्वेक्षणों और कॉरपोरेट द्वारा वित्त पोषित अरबों (रुपयों) से होने वाले नाटकीय मंचन वाले विशाल स्तर के अभियानों से संचालित होती है। इस वित्त का अधिकांश हिस्सा गोपनीय होता है और पहुंच से परे रहता है। नागरिकों और गैर नागरिकों को लेकर बढ़ता उन्माद, जो गृहमंत्री के रूप में अमित शाह की नियुक्ति के साथ ही पागलपन के अनुपात में बढ़ता लगता है, स्वयं में वह यूएस में सीमा पार करके दक्षिण अमेरिका से आने वाले आर्थिक शरणार्थियों के प्रति (यूएस राष्ट्रपति डोनाल्ड) ट्रंप की नस्लवादी और प्रत्यक्षतः जनसंहारक नीतियों की कार्बन प्रति है। यह सब कुछ संघ परिवार ने तीन भिन्नताओं के साथ यूएस से ग्रहण किया है - भारत में लगभग सभी टीवी चैनलों में वस्तुतः एकमुश्त उन्माद मानक से बहुत अधिक है; 2019 में भाजपा की चुनावी मशीनरी को चलाने में लगे पैसे का स्रोत कहीं ज्यादा अपारदर्शी है जबकि यह राशि यूएस के चुनाव में लगी राशि से भी कहीं ज्यादा थी। प्रतिशोधात्मक न्यायिक दंड के भय से मुक्त संघ परिवार द्वारा बहुत ही नियमित रूप से काम में ली जाने वाली कम तीव्रता की किंतु अविरल हिंसा ट्रंप की बर्बरता से कहीं आगे है।

क्या 2019 के चुनावों ने मुझे चकित किया? हां, वैसे ही अचंभे में डाला जैसे 2014 के परिणामों ने डाला था। मैं दिन प्रति दिन की चुनावी राजनीति का विद्यार्थी नहीं हूँ। किसी भी चुनाव में मेरी व्यक्तिगत उम्मीदें वाम और उदारपंथी वाम स्रोतों से मुझे जो आंकलन मिलता है, उससे रूपाकार ग्रहण करती हैं। और आप जानते हैं कि वे आंकलन क्या थे: दोनों पक्षों में हार-जीत का अंतराल बहुत ही कम रहना था, संभवतः एक त्रिशंकु संसद होती। एक बार जब मैं उन तात्कालिक उम्मीदों से उबर गया, तो संरचनात्मक विश्लेषण के अपने उसी मूल आधार पर वापस पहुंचा।

सेकुलरवाद की स्थिति हमेशा से एक

अल्पसंख्यक की रही है

मैं हमेशा जोर देता हूँ कि सेकुलरवाद के प्रति वास्तविक प्रतिबद्धता हमेशा भारतीय समाज और राजनीति में किसी अल्पसंख्यक की स्थिति से तय होती थी, अब देख ही लीजिए कि भारतीय समाज का कितना ज्यादा हिंदूकरण हो गया है, किस प्रकार सांप्रदायिकता भाजपा और इसके सहयोगियों के पक्ष में सदैव शानदार चुनावी विभाजन को बढ़ावा देती है, और कैसे चुनाव आयोग और उच्च न्यायपालिका समेत भारत के सभी प्रमुख संस्थानों की साख मिटाई जा रही है और कैसे ये भाजपा के हितों की अधिकाधिक पूर्ति में सेवारत हैं। 2014 के चुनाव परिणामों उपरांत मैं व्यापक रुझानों पर एक कहीं ज्यादा अवधारणात्मक लेख 2015 में लिख चुका था। इसे सोशललिस्ट रजिस्टर ने 2016 में प्रकाशित किया था। यह लेख फिर कुछ दूसरे स्थानों पर भी पुनः छपा - ब्रिटेन के साथ-साथ भारत में भी छपा। और अब इसे *फ्रंटलाइन* में पुनः मुद्रित किया गया है ('इंडिया: लिबरल डेमोक्रेसी एंड दि एक्ट्रीम राइट', सात जून, 2019)। जो बहुत कुछ घटित हो चुका है, वह सामान्यतः उन्हीं चीजों का तीव्रीकरण है, जिन्हें तब मैंने भारतीय राजनीति की मुख्य विशेषताओं के रूप में चिह्नित किया था।

उस समय मैंने कहा था कि एक ओर कांग्रेस का चुनावी पतन और दूसरी ओर वाम का पतन भी कम से कम उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि लोकसभा में भाजपा का बहुमत आना। मैंने नोट किया था कि मोदी पहले भारतीय प्रधानमंत्री थे जिन्हें चुनाव के आने से बहुत पहले ही वास्तव में बड़े पूंजीपतियों का पूर्ण समर्थन हासिल हो गया था। और जिसने न सिर्फ भारतीय राजनीति को अमेरिकी नमूने के राष्ट्रपति चुनाव में जाने को बाध्य किया अपितु उन्होंने अपने चुनाव में मोटा-मोटी उतना ही धन खर्च कर दिया जितना कि (पूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति बराक) ओबामा ने अपने चुनाव पर किया था। एक ऐसा बिंदु जो संभवतः बारीक पकड़ रखने वाले पाठकों से भी छूट गया था, वह यह है कि जो पैसा उन्होंने जुटाया था और कॉरपोरेट क्षेत्र से इसे लगातार जुटाए रखने की उन्हें जो उम्मीद बनी, उसने उन्हें बहुत हद तक आरएसएस, विहिप (विश्व हिंदू परिषद्) और यहां तक कि भाजपा तक से ऊपर उठा दिया। कारण कि चुनावी अभियान के लिए

आरएसएस द्वारा भाजपा को मुहैया कराए गए कार्यकर्ताओं को खरीदकर अपने पाले में करने लायक अब उनके पास पर्याप्त पैसा आ गया था। भाजपा के मध्यवर्ती कार्यकर्ताओं का तो कहना ही क्या था जिन्हें भी पैसे से खरीदा जा सकता था। अपनी ही दुनिया में मोदी-शाह जोड़ी की अपराजेयता कम से कम अंशतः उस विस्मयकारी संपत्ति पर आधारित है जिसे वे अब नियंत्रित करते हैं।

मेरा बहुत दूर तक तर्क था कि आरएसएस लंबे समय से एक रणनीति पर कायम था कि यह उदारवादी संस्थागत ढांचे को स्वीकार करेगा लेकिन राज्य के संस्थानों को अंदर से हथियाते हुए दीर्घकालीन राज्य सत्ता पाने के लिए संघर्ष करेगा। 1960 के दशक के प्रसिद्ध वामपंथी नारे के व्यंग्यात्मक संदर्भ के साथ मैंने इसे नाम दिया था - 'संस्थानों से होते हुए लंबा मार्च निकालना'। और भी व्यापक पैमाने पर मेरा तर्क था कि अति दक्षिणपंथी परियोजनाओं और उदारवादी संस्थागत संरचनाओं के बीच आधारभूत अंतर्विरोध नहीं है; आरएसएस उन संस्थानों को जकड़ सकता है और उनके माध्यम से शासन कर सकता है। पूर्ववर्ती विश्लेषण के ये और इसी प्रकार के बहुत सारे तर्क अभी भी मुझे वे मूल आधार प्रस्तुत करते हैं जिन्हें जहां हम आज खड़े हैं, उसके आगे के विश्लेषण में विकसित किया जा सकता है। अतः उदाहरण हेतु, और पिछले कुछ सालों में जो मैंने तर्क किए हैं, उन पर विचार करते हुए मैं विभिन्न प्रकार की चुनावी धांधलियों के स्तर को लेकर अथवा इस तथ्य को लेकर कम से कम चकित न था कि भारतीय राज्य का हर बड़ा संस्थान भाजपा/आरएसएस के साथ सांठगांठ किए हुए है, किसी भी (बुरे) परिणाम के खिलाफ इनके बचाव में रत है। राज्य को अंदर ही अंदर तत्त्वतः हथिया लिया गया है।

### कड़वी हकीकत

अधिक जटिल विश्लेषण के लिए इंतजार करना होगा। किंतु कुछ कड़वी बातें कहे जाने की जरूरत है। पहली तो यह कि भाजपा अब वास्तव में एकमात्र असली राष्ट्रीय पार्टी है और यह कि मोदी-शाह की जोड़ी इस बुनावट में स्थिर केंद्र का प्रतिनिधित्व करती है। दूसरा, वाम रूपी अपवाद के साथ कांग्रेस समेत कोई राजनीतिक दल नहीं है जो सेकुलर सभ्यता के लिए सामूहिक संघर्ष को अपने स्वयं के क्षेत्रीय

और कॉरपोरेट हितों के ऊपर वरीयता देना जरूरी मानता हो। इस मान्यता की एक परिणति यह भी है कि 'सेकुलर पाटियां' जैसी कोई चीज नहीं है जिसके साथ वाम स्वयं एक विश्व सनीय गठजोड़ कर सके; उनमें से हर एक के लिए सेकुलरवाद सुविधा का एक मसला मात्र है, और इस मसले पर वाम का अकेले पड़ जाना नितांत सत्य है। तीसरा, कांग्रेस का पतन तय है; किसी प्रकार के पुनः उभार के लिए बड़े बदलाव लाने होंगे किंतु जो दृष्टिगोचर नहीं हैं।

उत्तर प्रदेश (यूपी) का चुनाव परिणाम दिखाता है कि जाति की राजनीति के खंडित क्षेत्र के भीतर धार्मिक उन्माद और सोशल इंजीनियरिंग की राजनीति का संयोजन राज्य में जाति की राजनीति के दो प्रमुख चेहरों - सपा (समाजवादी पार्टी) और बसपा (बहुजन समाज पार्टी) की संयुक्त शक्ति को भी जबरदस्ती पटकनी देने के लिए पर्याप्त ताकतवर साबित हुआ। गांधी से लेकर आरएसएस तक का सपना रहा है - जातीय प्रतिरोधों को रियायत की मशीनरी द्वारा व्यापक हिंदू घेरे में रखना। कहा जाए तो ऊंची और नीची जातियों के सह अस्तित्व का एक मध्यवर्ती जाति वाला समाधान! इस पैमाने पर गुजरात से लेकर पूर्वोत्तर तक सारे रास्ते जो सफलताएं आरएसएस के खाते में दर्ज हैं, यूपी का परिणाम तो उनमें सबसे हालिया सफलता है। हमें अपनी इस स्थापित मान्यता का गहनता से पुनः परीक्षण करना होगा कि जाति का सवाल किस तरह हिंदुत्व की परियोजना को प्रभावित करेगा।

अंत में मुक्ति और पुनरोद्धार वाली किसी राजनीति की संभावनाओं के दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य से 2019 की सबसे ज्यादा दिल तोड़ने वाली घटना है - पश्चिम बंगाल में वाम रुझान रखने वाले लोकप्रिय मतों की गिरावट और इनमें से अधिकांश का भाजपा की ओर रुख करते दिखाई देना। न तो यह पहली बार है, और न पश्चिम बंगाल कोई पहली जगह है, जहां हमने देखा है कि इस धरती के अभागों को दिग्भ्रमित करने के लिए उदारवादी राजनीति कितनी क्रूर और दोगली हो सकती है। दिन प्रतिदिन के भौतिक संकटों का सामना करने की कोशिश करता हुआ (तृणमूल) कांग्रेस और भाजपा जैसी अपराधिक राजनीतिक ताकतों के आपसी झगड़ों के बीच फंस जाने

वाला वंचित, हताश और निर्धन करे भी तो क्या? चुनावों से पहले मैंने कहा था कि उदारवादी राजनीति के भगनावेशों में वाम इतना अकेला है कि इसे तो अस्तित्व की रक्षा तक के लिए जूझना होगा। अब इन परिणामों के आने के साथ ही स्थिति और भी विकट हो गई है।

### वाम की भूमिका

यह सब कहते हुए, मैं भारत में वाम के विषय में तीन बातों पर बल देना चाहता हूँ। पहली बात तो यह कि जिस स्तर के राजनीतिक अनुभव और संगठनात्मक गहराई पर इसकी पकड़ है, वह बिल्कुल अभूतपूर्व है। अगर कोई सोचता है कि सामाजिक आंदोलन, एनजीओ (गैर सरकारी संगठन), इधर-उधर के छोटे-मोटे समूह उन जगहों को भरने जा रहे हैं जहां से वाम को पीछे हटने के लिए बाध्य किया जा रहा है, तो यह बिल्कुल भी घटित होने वाला नहीं है। दूसरा, भारत में वाम ही एकमात्र ऐसी ताकत है जिसके पास समग्र रूप से गरीब और कामगार वर्ग की नजर से देखने की एक सुसंगत दृष्टि है और एक व्यापक सामाजिक समझ है। तीसरा, भारत में वाम इस देश के बौद्धिक और कलात्मक जीवन में असाधारण उपस्थिति रखता है। कोई दूसरी राजनीतिक ताकत इसके आसपास भी कहीं नहीं पहुंचती। आधारभूत संसाधन आज भी हैं, किंतु पुनःनिर्माण की शुरुआत एक अभूतपूर्व साहसिकता की अपेक्षा रखेगी।

पिछले पांच सालों में जो कुछ भी हुआ है, उसके बाद 2019 के चुनावों के बारे में कुछ भी वास्तव में तत्त्वतः आश्चर्यजनक न था - यहां तक कि यह संभावना भी चकित नहीं करती कि अगले पांच साल भी वैसे ही बदतर होने वाले हैं। वह युग जिसमें हमें आजादी मिली, बीत गया लगता है। और युवा बहुत बड़े पैमाने पर नष्ट-भ्रष्ट हो गया एक ऐसा देश विरासत में पाएंगे कि उनके पास सिर से उसका पुनः निर्माण करने के अलावा और कोई विकल्प ही नहीं बचेगा।

*हिंदुत्व के दक्षिणपंथी हमलों ने मोदी के काल में नई ऊंचाइयों को छू लिया है। दक्षिणपंथी समूहों द्वारा की जाने वाली भीड़की हिंसा, नृशंस हत्याएं, हत्याओं के षड्यंत्र, असहमति को कुचल देना आदि पिछले पांच सालों के दौरान इस देश में रोजमर्रा की सामान्य*

चीज थी और यह सब इसी प्रकार जारी है। आप इनका विश्लेषण कैसे करते हैं ?

इस बढ़ती को लेकर आप बिल्कुल सही हैं, लेकिन चीजों को एक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। लोकतंत्र सांप्रदायिक विध्वंस के बीच से जन्मा था और मानव इतिहास में लोगों का धर्म आधारित सबसे बड़ा विस्थापन हुआ था – हिंदू और सिख का पाकिस्तान से और मुसलमानों का भारत से। सांप्रदायिक हिंसा आजादी और विभाजन के बहुत पहले से ही वास्तव में हमारे साथ लगी हुई है। निश्चय ही करोड़ों भारतीय हैं जो अपने सामाजिक जीवन में पूर्णतः सहिष्णु हैं और अपने राजनीतिक आचरण में सेकुलर हैं। लेकिन हमें यह भी याद रखना चाहिए कि जाति आधारित और ईश्वर को लेकर उन्मादी समाज कितना सहिष्णु और सेकुलर हो सकता है, इसकी बहुत सारी सीमाएं हैं। यह विश्लेषण का पहला बिंदु है।

### सांप्रदायिक हिंसा जनित मुनाफे

दूसरा बिंदु यह है कि 1980 के दशक के मध्य से हमने बारंबार देखा है कि सांप्रदायिक हिंसा काफी बड़े सांस्कृतिक और चुनावी फायदे देती है। देश की राजधानी में हजारों सिखों की हत्या ने हिंदू राष्ट्र को संगठित करने में योगदान दिया और कांग्रेस को अब तक के सर्वाधिक सांसद मुहैया कराए। रामजन्म भूमि आंदोलन हिंदू बहुसंख्यकों को कांग्रेस से अलगाने और संघ परिवार हेतु इन्हें हथियाने के लिए शुरू किया गया था। हिंसा की होम्योपैथिक खुराक को अपने में संजोए पांच साल के इस आंदोलन उपरांत भाजपा ने 1989 में दो लोकसभा सीटों से 89 सीटों तक की छलांग लगा दी। रथ यात्रा और रक्तपात के दो सालों बाद यह 120 स्थानों तक ऊपर उठ गई। फिर बाबरी मस्जिद विध्वंस बाद के पहले चुनाव में इसने संसद में बहुत सारी सीटें जीत लीं – 161 सांसद इसके बने, और यहां तक कि केंद्र में एक अल्पकालिक सरकार तक का गठन कर डाला।

इस रिकार्ड को देखते हुए संघ के लिए यह राजनीतिक मूर्खता होगी कि वह स्वाभाविक रूप से उसके साथ चलने वाली सांप्रदायिक हिंसा को छोड़ दे। यह भी जोड़ा जा सकता है कि 2002 की गुजरात की हत्याओं से पहले मोदी एक छोटे से आदमी थे। उन हत्याओं के बाद वह और अमित शाह पहले राज्य के स्तर

पर और फिर संघीय स्तर पर अजेय हो गए थे। चुनावी गणित में जब-तब अस्थायी आघात लग सकता है किंतु समग्र रूप से 1980 के दशक के मध्य से ही संघ परिवार सत्ता और प्रतिष्ठा अर्जित करता आ रहा है।

बात सिर्फ यह नहीं है कि आरएसएस और भाजपा संघीय चुनावों के साथ-साथ राज्यों के चुनावों में भी ताकतवतर हो गए हैं अपितु वे सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर भी राष्ट्र के मिजाज को बदल डालने में सफल रहे हैं। भारत अब 20 साल पहले की तुलना में भी बहुत ज्यादा हिंदू देश है और यह चीज जितना फैशनबाज भगवा युवाओं पर लागू होती है उतनी ही अमीर किसानों पर भी लागू होती है। और यहां तक कि भारत के व्यापक हिस्सों में नीची जातियों तक यही बात है।

उदाहरण के लिए, वाजपेयी सरकार ने अपने शुरुआती दिनों में बीफ के ऊपर प्रतिबंध लगाने की कोशिश की किंतु संसद में हंगामे की स्थिति में जल्द ही पीछे हट गई। किंतु मोदी-शाह की सरकार बिना किसी अनुवर्ती विरोध के इसे लागू करने में सफल रही। आरएसएस अपने एजेंडे को और भी अधिक लागू करने में सक्षम है। मोदी से लेकर योगी आदित्यनाथ तक नेताओं का नया समूह वाजपेयी, यहां तक कि अडवाणी की तुलना में भी कहीं ज्यादा क्रूर है और कहीं ज्यादा खून का प्यासा है। आडवाणी ने अपना उदय शुरू होने से पहले एक लंबा समय एक छोटी सी पार्टी के सदस्य के रूप में संसद में बिताया था। विपक्ष की अस्त-व्यस्त स्थिति के ऊपर तो मुझे कहने की भी जरूरत नहीं है। संक्षेप में आरएसएस के सबसे घटिया तत्व एन एस समय सत्ता तक पहुंच गए हैं जब भाजपा अपनी चुनावी ताकत के शिखर पर है। वे अपनी उन रणनीतियों को क्योंकर छोड़ दें जिन्होंने उन्हें इस सत्ता तक पहुंचाया है ?

*आप उन बुद्धिजीवियों में अग्रणी थे जिन्होंने बाबरी मस्जिद के विध्वंस के संदर्भ में देश में फासीवाद के उभार के बारे में चेतावनी दी थी। आपका व्याख्यान बाद में 'फासिज्म एंड नेशनल कल्चर: रीडिंग ग्राम्शी इन द डेज ऑफ हिंदुत्व' के रूप में एक लेख की शकल में प्रकाशित हुआ था जो भारत में हिंदुत्ववादी फासीवाद के उभार पर उत्कृष्ट पाठ है। उसमें आप ने लिखा है कि "हर देश जिस फासीवाद*

के लायक होता है, वह उसे मिलता ही है।" क्या अब भारत को उसके हिस्से का फासीवाद मिल रहा है ?

हां, वह मेरी शुरुआती प्रतिक्रिया थी, और उस दौरान मैंने 'फासीवाद' के इस पद का कुछ ज्यादा ही प्रयोग किया था। लेकिन उस शुरुआती टिप्पणी के बाद बहुत जल्दी ही मैंने कई चेतावनियां भी पेश की थीं। मेरा अभी भी मानना है कि बाबरी मस्जिद विध्वंस एक फासीवादी तमाशा था और यह भी कि आरएसएस में कई सारी शास्त्रीय फासीवादी विशिष्टताएं हैं लेकिन मैं आरएसएस और इसके व्यापक राजनीतिक मोर्चे भाजपा के बीच अंतर करता हूँ जो ऐतिहासिक रूप से बहुत ही अनोखी पार्टी है। इस पार्टी की संरचनात्मक नवीनता को समझने के लिए हमें सुस्पष्ट द्वंद्वात्मक चीरफाड़ की जरूरत है। आपने मेरे जिस व्याख्यान / लेख का जिक्र किया है, वह अयोध्या विध्वंस के तुरंत बाद लिखा गया था लेकिन जैसा कि आपने कहा है, वैसे यह 'हिंदुत्ववादी फासीवाद के उभार' को लेकर नहीं था। बल्कि, संकट के एक विशिष्ट क्षण पर यह भारत के अंदर से उस संकट पर वैसा ही चिंतन था जो ग्राम्शी ने स्वयं के लिए पेश किया था। 1920 में इतालवी वामपंथी छोटे और अव्यवस्थित फासीवादी गठन की तुलना में अतुलनीय रूप से मजबूत थे। तीन साल बाद (बेनिटो) मुसोलिनी सत्ता में आ चुका था और जर्मनी में नाजियों के सत्ता संभालने से काफी पहले ही 1926 तक एक राजनीतिक ताकत के रूप में वाम के पतन के साथ ही उसकी शक्ति सर्वोपरी हो गई थी। इस प्रसंग में ग्राम्शी ने स्वयं से ही सवाल लिया था कि : हमारे इतिहास और समाज में ऐसा क्या था, हमारे देश के बुर्जुआ राष्ट्रवाद में ऐसा क्या था कि जिसने फासीवाद की ऐसी आसान जीत और वाम की ऐसी आसान पराजय का मार्ग प्रशस्त किया। 'जेल डायरी' ( *प्रिजन नोटबुक्स* ) का बहुत बड़ा हिस्सा इटली के इतिहास पर, इस इतिहास में वेटिकन के विशेष स्थान पर, किया गया चिंतन-मनन है, यह 'रिसोरजिमेंटो' और इटली के एकीकरण की खासियत को लेकर है, इटली के बुर्जुआ वर्ग की अवरुद्ध प्रकृति और इसके औद्योगिक शहरों को लेकर है, यह लोकप्रिय कथा साहित्यिक और इसी प्रकार की चीजों को लेकर है ताकि लोकप्रिय चेतना के प्रारूप को समझा

जा सके। मैंने भारत के बारे में भी इसी प्रकार के सवाल को उठाने की कोशिश की थी। उस लेख की समस्या यह है कि उसका बहुत कुछ हिस्सा सादृश्य मूलक चिंतन पर है जो चिंतन का बहुत ही निम्न रूप होता है। उसके शीघ्र बाद ही मैंने इटली के फासीवाद पर बहुत लंबा लेख लिखा था जो मुझे बेहतर लगता है।

जब मैंने लिखा कि हर देश जिस लायक होता है, उसे वैसा फासीवाद मिलता है, तो मेरे मस्तिष्क में जर्मनी और इटली के बीच का बड़ा अंतराल विद्यमान था, इटली या जर्मनी और स्पेन के बीच का अंतराल और इसी प्रकार के दूसरे अंतराल विद्यमान थे। इन अंतरालों से तब यह ध्वनित होता है कि अगर फासीवाद कभी भारत में आया तो यह हमारे इतिहास और समाज की उपज होगा। कि सी अन्य के फासीवाद से यह बिल्कुल भिन्न होगा। आप मुझसे पूछते हैं कि क्या अब फासीवाद भारत में आ रहा है। तो जबाब है – 'नहीं'। न तो भारतीय बुर्जुआओं को और न ही आरएसएस को फासीवाद की जरूरत है। दोनों विश्व युद्धों के बीच के योरोप में विभिन्न प्रकार का फासीवाद उन देशों में आया जिनमें कामगार वर्ग का आंदोलन बहुत ताकतवर था और साम्यवादी क्रांति की बहुत संभावना थी। भारत में ऐसी कोई स्थिति नहीं मिलती है। सांप्रदायिक हिंसा फासीवाद नहीं होती है, और इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि यह हिंसा चाहे कितनी ही खतरनाक और अनवरत क्यों न हो। क्या आरएसएस और इसके असंख्य गैर संसदीय मोर्चों में कुछ फासीवादी लक्षण हैं? हां, हैं। किंतु विश्व भर में दर्जनों अति दक्षिणपंथी आंदोलन और दल हैं, जिनमें ऐसे लक्षण देखे जा सकते हैं। लगभग 1880 से फासीवादी धारा पूंजीवादी राजनीति का हिस्सा रही है लेकिन वास्तविक अर्थ में बहुत कम राज्य और राजनीतिक दल फासीवादी कहे जा सकते हैं।

### उथला लोकतंत्र

आप कहते हैं कि संघ परिवार जैसी दक्षिणपंथी ताकतों को भारत में उदारवादी राजनीतिक ढांचे को पूरी तरह नष्ट करने और खत्म करने की जरूरत नहीं है। इसकी जगह, वे इसी की सीमाओं में काम कर सकती हैं और इसका इस्तेमाल कर सकती हैं। क्या हमारी लोकतांत्रिक परंपरा और उदार राजनीतिक व्यवस्था पर्याप्त मजबूत है जो हमें उदारवादी

लोकतांत्रिक संसदीय तंत्र के तहत दक्षिणपंथी अधिनायकवादी प्रवृत्तियों के नीचे कुचले जाने से बचा सके?

संविधान के कुछ आयामों को बदल देना उदारवादी तंत्र को कुचले जाने सरीखी चीज नहीं है। अमेरिका के संविधान ने बहुत से संशोधनों को शामिल किया है। कि सी संविधान में नए तत्वों को समाहित करने की एक संसदीय प्रक्रिया होती है। आप या मैं चाहे उन बदलावों को पसंद करें या न करें, किंतु जिस सीमा तक उन संसदीय प्रक्रियाओं की पालना की जाती है, उदारवादी व्यवस्था अक्षुण्ण रहती है। आपको समझना चाहिए कि मैं लोकतंत्र का बड़ा पक्षधर हूँ, लेकिन मैं उदारवाद को पसंद नहीं करता। मेरा लोकतंत्र के उदारीकरण की भर्त्सना करने वाला एक लेख भी छपा है। पिछले पांच सालों में जो बहुत ही भयावह घटित हुआ है, वह है – एक बड़ी सीमा तक भाजपा उदारवादी व्यवस्था के मुख्य क्षेत्रों से स्वीकृति अर्जित करने में सफल रही है, जैसे कि न्यायपालिका, चुनाव आयोग और बिना शंका के इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के अधिकांश हिस्से, सर्वव्यापी मीडिया और टीवी चैनलों से यह स्वीकृति पाने में सफल रही है। हमारे यहां सदैव ही एक उथला लोकतंत्र रहा है। और इसका जो कुछ प्रभाव है भी, उसे नष्ट किया जा रहा है। और वैसे भी मैं 'सर्वसत्तावाद' शब्द की भर्त्सना करता हूँ। इसका आविष्कार साम्यवादी देशों को बदनाम करने और यह सिद्ध करने के लिए किया गया था कि साम्यवादी और फासीवादी, समान रूप से अधिनायकवादी हैं।

20वीं सदी के औपनिवेशिक संदर्भ में आरएसएस और हिंदुत्व की राजनीति के उभार को आप कैसे देखते हैं? पहले आपने लिखा था कि इसी प्रकार की क्रांति विरोधी ताकतें, उदाहरण हेतु मुस्लिम ब्रदरहुड, विश्व के विभिन्न हिस्सों में दोनों विश्वयुद्धों के बीच उभरी थीं। इस प्रकार के उभार को रास्ता किसने दिखाया? अपने चरित्र में ये (ताकतें) कैसे समान हैं?

एक संतोषजनक जबाब के लिए बहुत सारा समय और जगह अपेक्षित है। संक्षेप में तीन बिंदु रखे जा सकते हैं। पहला, तो यह कि योरोप का क्रांति और प्रतिक्रांति के बीच, तार्किकता और गैर तार्किकता के बीच संघर्ष का अपना एक लंबा इतिहास है; राष्ट्रवाद की

सेकुलर परिभाषा और राष्ट्रवाद की नस्लीय या धार्मिक परिभाषाओं के बीच संघर्ष का; विभिन्न प्रकार के उदारवादी संस्थानों के साथ विभिन्न प्रकार के अधिनायकवादों के संघर्ष का और इसी प्रकार के दूसरे संघर्षों का एक लंबा इतिहास है। उपनिवेशवाद इन सब चीजों को उपनिवेशों में लाया और इसी के साथ हमारे समाजों में भी इस प्रकार के विवाद आम हो गए। हिंदू राष्ट्रवाद या मुस्लिम राष्ट्रवाद के विषय में कुछ भी विशिष्टतः भारतीय नहीं है; ये सिर्फ औपनिवेशिक संस्करण हैं। चलिए हम आपको फ्रांस की प्रति क्रांतिकारी परंपरा के बारे में भी बता दें जिसने सामंतवाद और कैथोलिक चर्च के विशेषाधिकार को समाप्त करने के लिए फ्रांसीसी क्रांति का तिरस्कार किया था। धार्मिक अल्पलसंख्यकों के खिलाफ सांप्रदायिक हिंसा और कुछ नहीं बल्कि योरोप के यहूदी विरोध की औपनिवेशिक प्रतिलिपि मात्र है।

दूसरा, हिंदू महासभा और मुस्लिम ब्रदरहुड जैसे संगठन योरोप के फासीवादी आंदोलनों को लेकर काफी सचेत थे और इन्होंने अंशतः इनसे सीख भी ली; उदाहरण हेतु (वीडी) सावरकर ने कहा था कि हिंदुओं को अपनी मुस्लिम समस्या उसी तरीके से सुलझानी चाहिए जिस तरह नाजियों ने जर्मनी की यहूदी समस्या का समाधान निकाला, और यह समाधान है – नरसंहार का रास्ता। इस उभार का तीसरा कारक है – एक देश या किसी दूसरे देश में इस या उस समय इन आंदोलनों की सफलता या असफलता प्रत्येक देश के संदर्भ में बहुत विशिष्ट होती है। इन मामलों में बहुत ज्यादा सरलीकरण पथभ्रष्ट करने वाला होता है।

सेकुलरवाद का विचार कितना महत्वपूर्ण है?

सभी संदर्भों में सेकुलरवाद एक उम्दा विचार है। जरूरत इसे थामे रहने की है। लेकिन हिंदुत्ववादी बहुसंख्यकवाद के खिलाफ संघर्ष के लिए साथ ही साथ सभी प्रकार के दूसरे उपाय भी अपेक्षित हैं। कांग्रेस की शैली का सेकुलरवाद और भाजपा की शैली का बहुसंख्यकवाद दमन और शोषण के सर्वाधिक निष्ठुर रूपों पर आधारित एक ही तंत्र के अंतर्गत परस्पर प्रतिस्पर्धी विचारधाराएं हैं। भारतीय चुनावी राजनीति बड़े पैमाने पर जाति, धर्म और

संपत्ति के विभिन्न रूपों के इर्द-गिर्द आयोजित होती है। 'स्वतंत्रता, बंधुत्व और समानता' के प्रबोधनवादी सूत्र से ही सेकुलरवाद का विचार आया है, सेकुलरवाद 'बंधुत्व' के व्यापक दायरे में आता है। क्या एक जाति आधारित समाज 'बंधुत्ववादी' हो सकता है? अगर नहीं, तो क्या किसी भी अर्थपूर्ण संदर्भ में यह सेकुलर हो सकता है? क्या 'समानता' के बिना 'बंधुत्व' संभव है? इससे यह भी कहना है कि क्या समाजवाद के बिना लोकतंत्र संभव है? बोल्शेविक उत्तर को जाने भी दें, तो फ्रेंच क्रांति से काफी पहले ही (जां जैक) रूसो ने इसका जबाब दे दिया था - भौतिक वस्तुओं तक पहुंच के सिलसिले में जो असमान हैं, वे कानून की नजर के सामने कभी समान नहीं हो सकते। जैसा कि हम जानते हैं, साम्यवाद पहली मर्तबा फ्रांसीसी क्रांति के दौरान झलका था जिसने हमें धर्म की ताकत के खिलाफ सेकुलरवाद दिया। धर्म की ताकत के खिलाफ होने के साथ-साथ यह (फ्रेंकोइ नोएल) बेबूफ के 'कॉन्सपिरेसी ऑफ इक्वल' (समानता का षडयंत्र) नामक एक लगभग वास्तविक साम्यवादी संगठन के रूप में भी था। किंतु वह साम्यवादी रुझान पराजित हो गया था; और हमारे पास सेकुलरवाद और उदारवाद ही शेष बचे। अतः दो सौ साल से भी अधिक समय से यह सवाल बना हुआ है कि क्या उदारवाद अकेला सेकुलरवाद का बचाव कर सकता है? क्या समाजवाद के बिना सेकुलरवाद संभव है?

मेरा जबाब है 'नहीं'। स्वयं उदारवादी फ्रांस में और योरोप भर में यहूदी विरोध और इस्लामोफोबिया पर नजर डालिए। अतः जैसा कि आपके सवाल का संदर्भ है तो: हां, सेकुलरवाद का विचार बहुत महत्वपूर्ण है। लेकिन इस विचार का भौतिक रूप से अहसास करने के लिए आपके पास एक वास्तविक समाजवादी समाज होना चाहिए। आज के भारत में इस विचार का वास्तविक अहसास असंभव है। हम जानते हैं कि बहुसंख्यकवाद कितना जहरीला होता है, लेकिन हम अक्सर भूल जाते हैं कि उदारवाद ने हमेशा सेकुलरवाद को धोखा दिया है और यह हमेशा धोखा देगा।

*विश्व के विभिन्न हिस्सों में वाम आंदोलन कुछ गति पकड़ रहा है। हां, भारत में वाम ने 2019 के चुनावों में जबरदस्त पराजय झेली है। वर्तमान भारतीय संदर्भ में वाम राजनीति*

*की प्रासंगिकता क्या है?*

'विश्व के विभिन्न हिस्सों' का जहां तक संदर्भ है तो यह इस पर निर्भर करता है कि आपका 'वाम' से मतलब क्या है और विश्व के किस हिस्से का आप उल्लेख कर रहे हैं। रिकार्ड समान नहीं हैं। लैटिन अमेरिका के वाम को, कथित 'पिंक टाइड' (गुलाबी लहर दूसरे अर्थों में नरम वामपंथ) को काफी हद तक नियंत्रित कर लिया गया है। दक्षिण अमेरिका का सबसे बड़ा देश ब्राजील, लूला का ब्राजील अब एक अति दक्षिणपंथी हथौड़े के नीचे है जो मोदी के भारत से तार्किक रूप से कहीं ज्यादा क्रूर है। इक्वाडोर भी ऐसा ही है। अर्जेंटाइन एक प्रकार के कम क्रूर शासन के बूटों तले है किंतु यह शासन ऐसा है कि पिछले दो प्रशासनों के अंतर्गत कामगार वर्ग ने जो भी अर्जित किया था, उस सबको पलटने को लेकर प्रतिबद्ध है। वेनेजुएला में चविस्ता सरकार और आंदोलन अस्तित्व में हैं किंतु अमेरिका द्वारा डाली गई आर्थिक घेराबंदी और अवरोधों के कारण अकथनीय कष्टों से पीड़ित है। दूसरी ओर, योरोप-अमेरिका क्षेत्र के कुछ आधारभूत देशों में दक्षिणपंथी सरकारों को वाम की ओर से मिलने वाली चुनौतियां भी देखी गई हैं। अमेरिका के मामले में अति दक्षिणपंथी सरकार को एक चुनौती मिली हुई है। इस संदर्भ में इसे भी देखने की जरूरत है।

किसी भी अर्थपूर्ण संदर्भ में अमेरिका के बर्नी सैंडर्स मुश्किल से ही समाजवादी हैं। वह बहुत ही शिष्ट ढंग के न्यू डील डेमोक्रेट हैं: सामाजिक लोकतंत्र के बहुत ही हल्के-फुल्के रूप को थामे हुए जैसे कि कामगार वर्ग के लिए ऊंचे न्यूनतम वेतन, कनाडा और पश्चिमी योरोप सरीखी सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधा और इसी प्रकार के दूसरे सुधारों की बात करने वाले। ब्रिटेन में (जेरेमी) कार्बिन वैसे ही हैं, जैसे कि वह हमेशा से थे: वह लेबर पार्टी के वाम धड़े के प्रतिनिधि हैं, यह प्रतिनिधित्व वैसा ही है जैसा कि 1950 और 1960 के दशकों में हुआ करता था। फ्रांस में जां-ल्यूक मेलेंचोन सदैव मध्यमार्गी रहने वाली, किंतु अब भ्रष्ट हो चुकी सोशलिस्ट पार्टी के पूर्व सदस्य हैं। उन्होंने पिछले 30 या इससे भी अधिक सालों से फ्रांसीसी राष्ट्रपति की राजनीति जिसके लिए जानी जाती है, उसकी तुलना में कहीं ज्यादा रेडिकल वामपंथी कार्यक्रम के साथ चुनावों में उल्लेखनीय

प्रदर्शन किया है। किंतु इन सबको किन्होंने रोका? सैंडर्स के मामले में डेमोक्रेटिक पार्टी के शीर्ष पदाधिकारियों ने, कार्बिन के मामले में लेबर पार्टी के ब्लेयरवादी धड़े ने और फ्रांस में मेलेंचोन के साथ आम सहमति बनाने से इनकार किया था उस सोशलिस्ट पार्टी ने जो अब बहुत कमजोर हो चुकी है। संक्षेप में हल्के-फुल्के समाजवादी वाम के साथ उदारवादियों का विश्वासघात। यह पुरानी कहानी है!

## घातक क्षण

भारत का वाम सदैव से बहुत नुकसान में रहा है। भारतीय राजनीति में आरएसएस के चुनावी उभार के एकदम शुरुआत से ही, जो वास्तव में आपातकाल के दौर तक पीछे जाता है, और वर्तमान की आवश्यकताओं के दबाव में वाम ने बहुत बार यह भूलने को ही वरीयता दी कि तेलंगाना में साम्यवादियों के विरुद्ध किसने सशस्त्र बल भेजे थे और किसने केरल में विश्व की पहली चुनी गई (साम्यवादी) सरकार को बर्खास्त किया था। चुनावी राजनीति में कई मर्तबा अपने विरोधी के साथ गठबंधन किया जाता है किंतु उन विरोधियों के चरित्र को याद रखने की जरूरत होती है। हमें समाजवादियों - जेपी, (राम मनोहर) लोहिया और उनके शिष्यों के उल्लेख की जरूरत नहीं है जो साम्यवादियों से उतनी नफरत करते थे जितनी कि वे कांग्रेसियों से भी नहीं करते थे। जब आपातकाल के दौरान कुचले जाने का वक्त आया तो जनता दल सरकार के बहुत ही दक्षिणपंथी स्वरूप के उभार को सुनिश्चित करने में मदद करते हुए आपातकाल विरोधी गठबंधन में उन्होंने गठबंधन हेतु भाकपा (मार्क्सवादी) के ऊपर आरएसएस को वरीयता दी। यह सरकार आपातकाल हटाये जाने के तुरंत बाद आयोजित चुनाव से उभरी थी। यह क्षण आने वाले दशकों में भारतीय राजनीति के लिए घातक साबित हुआ। तभी आरएसएस समाजवादियों और मोरारजी देसाई और उनकी गैंग के रूप में कांग्रेस से टूटने वालों के सहयोग से खुद अपने सशक्त रूप में आया। तथ्य यह है कि पश्चिम बंगाल में वाम धड़े की सत्ता के पदचिह्न 1977 के उसी क्षण तक पीछे देखे जा सकते हैं और इसने इस तथ्य को ढकने का काम भी किया है कि वाम का राजनीतिक एकाकीपन भी ठीक उसी समय से

उभरना शुरू हुआ था।

इसलिए अब मैं वाम की भूमिका वाले आपके सवाल पर वापस लौटता हूँ। चूँकि हम हिंदुत्ववादी सांप्रदायिकता और बहुसंख्यक-वाद पर बहस करते रहे हैं अतः मैं आपको उसी सवाल के संदर्भ में जबाब देता हूँ। मेरी राय में भारत में साम्यवादी वामपंथी ही एकमात्र ऐसी ताकत हैं जिनकी भारत में सेकुलर समाज और सेकुलर राजनीति को लेकर गहरी और अटल प्रतिबद्धता है। सभी क्षेत्रीय राजनीतिक दलों ने जब-तब उस भाजपा के साथ सहयोग किया है जो आरएसएस का एक राजनीतिक मोर्चा है। जैसा कि मैं अभी-अभी कह ही रहा था कि इंदिरा विरोधी, अपातकाल विरोधी उस आंदोलन में जेपी आंदोलन और आरएसएस के निकट के सहयोगी थे जिसने जनता सरकार के गठन का रास्ता प्रशस्त किया। उस सरकार में जनसंघ का हिस्सा सबसे बड़ा था और वही सबसे शक्तिशाली ताकत थी। यहां तक कि आजादी से पहले भी महात्मा की कांग्रेस में एक ताकतवर सांप्रदायिक धड़ा सदैव से था। भारतीय समाज और राजनीति में हिंदू सांप्रदायिकता सदैव एक प्रमुख धारा रही है।

आजादी के कुछ दशकों तक तो अंशतः इस देश के विभिन्न हिस्सों में साम्यवादी आंदोलन की ताकत और प्रतिष्ठा के कारण और अंशतः सत्ताधारी कांग्रेस पार्टी के इस धारा के साथ पहचाने जाने के कारण सेकुलर धारा वर्चस्वशील रही। इस हेतु (जवाहर लाल) नेहरू और विशेषतः 1950 में (वल्लभ भाई) पटेल के देहांत उपरांत उनके सहयोगियों के छोटे से समूह का आधार। अपातकाल के बाद, यहां तक कि इंदिरा के समय भी कांग्रेस के उस चरित्र में गिरावट आनी शुरू हो गई थी। बाबरी मस्जिद विध्वंस के मुद्दे पर संघ परिवार के साथ (पीवी) नरसिम्हाराव के अर्थपूर्ण टकराव से इनकार के समय तक वाम दलों को छोड़कर सभी राजनीतिक दलों के आभिजात्य नेतृत्व के बीच गूढ़ समझ का जटिल ढांचा विकसित हो गया था। आपको याद होगा कि गुजरात हत्याकांड पर औपचारिक चर्चा के लिए भी इन आभिजात्यों ने संसद को अनुमति न दी थी। हालांकि मैं मानता हूँ कि पूर्व की तुलना में पूरे देश भर में हिंदुत्ववादी आदेशों और योजनाओं का एक पूरा पैकेज आज हिंदू मध्यवर्गों में कहीं ज्यादा स्वीकार्य है, यहां तक कि केरल और पश्चिम

बंगाल भी अपनी लंबी साम्यवादी परंपराओं के बावजूद निरापद नहीं हैं। अतः वाम जो कर सकता है, उसे करना होगा, किंतु उसके सामने विकल्प सीमित हैं। केरल में आरएसएस और पश्चिम बंगाल में तृणमूल के हाथों वाम साल दर साल जो हिंसा झेल रहा है, उसे देखिए। आरएसएस के हाथों होने वाला भारतीय राजनीति का पतन तो है ही किंतु साथ ही उदारवादियों के हाथों भी ऐसा ही पतन हुआ है, सो सबसे पहले तो वाम को अपने ही अस्तित्व की लड़ाई लड़नी होगी और फिर जितना कि यह कर सकता है, उतना तार्किक और सेकुलर दिशा में भारतीय राजनीति का मार्गदर्शन इसे करना होगा।

*विश्व के विभिन्न हिस्सों में नवउदारवादी पूंजीवाद के विरुद्ध विद्रोह उभर रहे हैं। क्या आप सोचते हैं कि क्षितिज पर एक वैश्विक क्रांतिकारी संयोग है? समाजवादी क्रांतिकारी उभार के अवसर, संभावनाएं और चुनौतियां क्या हैं?*

पूंजीवाद जनता के ऊपर की जाने वाली क्रूरता का एक बर्बर रूप है, विशेषतः अपने नवउदारवादी चरम स्तर पर। जब तक ये क्रूरताएं रहेंगी तब तक विद्रोह होते रहेंगे, और उनमें से बहुत से विद्रोह वाम की तरफ से होंगे। किंतु मैं नहीं सोचता कि एक वैश्विक क्रांतिकारी संयोग घटित होने वाला है। वैश्विक परिदृश्य के रूप में समाजवाद लंबे समय से उतार पर है, चीन में 1970 के दशक के उत्तरार्द्ध वाले प्रसिद्ध डेंग (झिओपिंग) सुधारों के समय से ही यह उतार पर है। बहुत सारे लोगों ने हमारे समय के लिए ग्राम्शी के उस प्रसिद्ध चरित्र चित्रण - फासीवाद के उभार का सही ही आह्वान किया है, जो उनके अपने समय - 1930 के दशक को लेकर था। यह वह दौर था जब पुरानी दुनिया मिट रही थी लेकिन नई का जन्म अभी नहीं हुआ था, और इसीलिए संसार रुग्ण लक्षणों से घिरा हुआ था। नस्लीय और धार्मिक विद्वेष और हिंसा का उभार उन्हीं लक्षणों में से है। ये लक्षण जितना पीड़ितों में उभरते हैं, उतना ही उत्पीड़कों में भी उभरते हैं। जिहादी पागलपन के सबसे ज्यादा चरम रूपों में से एक तथाकथित इस्लामिक स्टेट अपनी भर्तियां इराक पर अमेरिकी हमले के शिकारों में से करता है। विश्वभर के साथ-साथ भारत में वाम अभी बहुत अधिक रक्षात्मक है।

## आज मार्क्स

*2018 का वर्ष कार्ल मार्क्स की द्विशतवार्षिकी का साल था। मार्क्स का सबसे महत्वपूर्ण योगदान क्या है जो अभी भी प्रासंगिक है? और मार्क्स ही क्यों?*

आपने जो सवाल उठाया वह बहुत महत्वपूर्ण है किंतु व्यापक भी बहुत है अतः मैं इसके सामने अवाक रह गया हूँ। अतः मुझे बस कुछ उस चीज को याद करने दो जो (ज्यां पॉल) सार्त्र ने आधी से भी ज्यादा सदी पहले कही थी। अपनी 'क्रिटिक ऑफ डायलेक्टिकल रीजन' की लंबी पुस्तकीय भूमिका में सार्त्र टिप्पणी करते हैं कि मार्क्सवाद पूंजीवादी ढब के उत्पादन नमूने का अकादमिक विज्ञान है और इसीलिए जब तक पूंजीवाद है तब तक सभी प्रकार के चिंतन का यह अंतिम क्षितिज रहेगा। मुझे लगता है कि यही इस पूरे मसले का मूल है। लेकिन सार्त्र ने यह भी कहा था कि मार्क्स प्रकृति से ही एक असमाप्त और असमाप्तनीय ज्ञान है क्योंकि बदलते रहने वाले अस्तित्ववान विश्व के विज्ञान के रूप में मार्क्सवाद भी स्थिर, जड़ नहीं है अपितु यह एक गतिशील ज्ञान है। यह हमेशा स्वयं को अधुनातन करने वाला, स्वयं का पुनःनवीनीकरण करने वाला, स्वयं को बदलने वाला विज्ञान है क्योंकि भौतिक संसार और इसके ज्ञान का लक्ष्य सदैव परिवर्तन के भंवर में फंसा हुआ है। दूसरे शब्दों में मार्क्स हमारे अंदर अस्तित्व के दो रूपों में रहता है: परंपरा के रूप में उसके द्वारा वसीयत में सौंपे गए कार्य की श्रेष्ठता के रूप में और फिर उस परंपरा के आधार पर मार्क्सवादी पीढ़ियों ने जो बौद्धिक और राजनीतिक अवदान दिया है, उसमें भी वह अस्तित्व में रहता है।

हालांकि, कुछ अन्य भी मुझे जोड़ना है। पूंजी की महानता इतनी अभूतपूर्व है कि आर्थिक विश्लेषण के सिद्धांतों और पद्धतियों के लिए मार्क्स की ओर और क्रांतिकारी राजनीति की रणनीति और दांव-पेंच के लिए (व्लादिमीर इलिच) लेनिन की तरफ देखने की प्रवृत्ति विकसित हो गई है। मैं लेनिन के महत्व को कमतर नहीं आंकना चाहता किंतु मैं इस पर जोर देना चाहता हूँ कि स्वयं राजनीति की अवधारणा में भी मार्क्स ही प्रारंभिक व्यक्ति हैं - एक पेशेवर क्रांतिकारी हैं और इस प्रकार वह कामगार वर्ग की राजनीति के संस्थापक दार्शनिक हैं। वाम इतिहास में

बौद्धिक कार्यकर्ताओं की महान परंपरा सीधे – सीधे स्वयं मार्क्स के जीवन और काम पर गढ़ी गई है।

### जाति का कारक

भारत के सामाजिक संदर्भ में कुछ लोग 'वर्गीय अंधता' और 'यूरोप केंद्रिकता' के लिए और जाति के अस्तित्व पर पर्याप्त ध्यान न देने के लिए मार्क्स की आलोचना करते हैं। साम्यवादी आंदोलनों के खिलाफ भी यह आलोचना की जाती है। जाति के सवाल से मार्क्सवाद कैसे निपटेगा? जाति उन्मूलन के कार्यक्रम को आगे ले जाने में आप वाम आंदोलन के प्रदर्शन का मूल्यांकन कैसे करते हैं?

मेरा मानना है कि भारत में वर्गीय क्रांति का सवाल जाति के सवाल से होकर गुजरता है और जाति के उन्मूलन के बिना भारत में कोई समाजवादी क्रांति संभव नहीं है। इस मामले में (बीआर) आंबेडकर सुधार की बजाय उन्मूलन के अपने आग्रह में सही थे। वह अपने इस तर्क में सही थे कि भाकपा (भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी) ने वास्तव में नहीं समझा कि भारत में जाति ऐतिहासिक रूप से वर्ग के गठन और वर्चस्वशील विचारधाराओं की निर्मित की मूल कुंजी थी। और इस सवाल पर गांधी की उदासीनता और अवसरवाद को लेकर अपनी गहरी नापसंदगी में वह सही थे। मेरा मानना है कि यह कहना भी सही है कि आजादी के बाद से वर्गीय और जातीय संरचनाओं में जो कुछ उथल-पुथल भारत ने देखी है, उन सबमें जाति और वर्ग के बीच निश्चय ही एक व्यापक संबंध विद्यमान रहा है। हालांकि, फिर इन जमीनी सच्चाइयों को दूसरे प्रकार की जटिलताओं के साथ भी जोड़ा जाना चाहिए। स्वातंत्र्योत्तर भारत में पूंजीवादी विस्तार की अति उच्च दर ने और नव स्थापित पूंजीवादी रंग ढंग के संसदीय शासन तंत्र ने मध्यवर्ती जातियों और यहां तक कि सर्वाधिक दमित जातियों के कुछ चुनिंदा हिस्सों के लिए भी एक प्रकार की सामाजिक गतिशीलता के विशाल क्षेत्रों को खोलने का काम किया है। इसमें चुनावी प्रतीकात्मकता शामिल है किंतु साथ ही शामिल है – अपेक्षाकृत हल्के-फुल्के भूमि पुनर्वितरण की योजनाओं से लेकर हरित क्रांति और आरक्षण की नीति आदि तक राज्य द्वारा शुरू की गई विभिन्न प्रकार की पहलें। इन कदमों से मध्यवर्ती जातियों को बहुत फायदा

हुआ है किंतु साथ ही साथ दलितों के कुछ हिस्सों को भी लाभ हुआ है।

इस सबने पैदा किए हैं – कुछ जाति आधारित अभिजात्य? वर्ग, सत्ता के स्थानीय दलाल, ऊपर की ओर उठ रहे विभिन्न प्रकार के गतिशील संस्तरण जबकि समाज के दूसरे मुख्य क्षेत्रों के साथ-साथ संसदीय तंत्र में स्वयं जाति एक मुख्य राजनीतिक श्रेणी के रूप में उभरी है। वास्तव में इसका उभार वर्ग की तुलना में बहुत ज्यादा है। उदाहरण के लिए स्कूलों और कॉलेजों में और राज्य के रोजगारों में अथवा राज्य की विधायिका या लोकसभा में किसी ने कभी कामगार वर्ग के लिए स्थानों के आरक्षण पर बल दिया? स्वयं उदारवादी बुर्जुआ लोगों की राजनीति में जाति एक भिन्न प्रकार की प्राथमिकता रखती है। इस राजनीतिक दायरे में यह मुद्दा मुख्यतः उन नए अभिजात्य लोगों द्वारा हथिया लिया गया है जो मध्यवर्ती और दमित जातियों से उभरे हैं। कांग्रेस से लेकर भाजपा तक बड़ी बुर्जुआ पार्टियां जाति के मुद्दे के साथ छेड़छाड़ करने के लिए बहुत ही घृणित तौर-तरीके अपनाती हैं। एक विचार बहुत ही जोरदार रहा है कि किसी जाति के भौतिक हित उसी जाति के सदस्यों द्वारा प्रस्तुत किए जा सकते हैं, इसे ये नए जाति आधारित अभिजात लोग मुखर ढंग से प्रचारित करते हैं। इस प्रकार की जाति आधारित राजनीति अक्सर वर्ग आधारित राजनीति से टकराती है। मेरा अवलोकन यह है कि वाम ने दमित जातियों से आने वाली कमोबेश हर प्रगतिशील पहल का साथ दिया है, और जमीनी स्तर पर जाति के मुद्दे पर इसने खुद असंख्य पहलों की शुरुआत की है। किंतु वे सब चीजें मीडिया द्वारा अनदेखा कर दी जाती हैं और ऊपर को उठने वाले गतिशील अभिजात्यों द्वारा इन्हें स्वीकार ही नहीं किया जाता है। जब वाम शहरी और ग्रामीण कामगार वर्गों को संगठित करने के लिए निकलता है तो यह अनिवार्यतः उत्पीड़ित जातियों के लोगों को संगठित करता है, क्योंकि निश्चय ही अधिकांश कामगार वर्ग, विशेषतः भूमिहीन ग्रामीण और शहर के गुलाम श्रमिक इन्हीं उत्पीड़ित जातियों से आते हैं। हां, यह तो है कि इस मुद्दे पर बहुत ज्यादा संवेदनशीलता और बहुत ज्यादा ऊर्जा समर्पित करने की जरूरत है, जाति के सवाल पर वामपंथी कार्यकर्ताओं को बड़ी जन शिक्षा की जरूरत है। किंतु वर्तमान में

जाति के इस सवाल पर जाति आधारित अभिजात्य तबके ने इतना ज्यादा एकाधिकार कर रखा है कि वाम जो कर सकता है, उस पर बहुत सी सीमाएं लगी हुई हैं। यथार्थ में यह जो कुछ भी करता है, इसे उसकी समुचित मान्यता भी मिलनी चाहिए। वाम के खिलाफ यूरोप केंद्रित होने के जो आरोप जड़े गए हैं, वे अधिकांशतः ऊपर की ओर उठने वाले गतिशील अभिजात्यों ने ही थोपे हैं।

कुछ वाम लेखक कहते हैं कि 'वर्ग' के कुछ चलताऊ संदर्भों को छोड़कर मार्क्स द्वारा दी गई इसकी कोई मुक्तमल परिभाषा नहीं है। माओत्से तुंग चीनी समाज में वर्ग को परिभाषित करने और विश्लेषित करने में अद्भुत थे। समीर अमीन आधुनिक पूंजीवादी समाज में छह वर्गों की बात करते हैं। मार्क्स की शब्दावली में वर्ग क्या है और वर्ग श्रेणी की उदारवादी समझ से यह कैसे भिन्न है?

जो कोई भी यह सोचता है कि मार्क्स वर्ग को परिभाषित नहीं करते हैं, वह जो चीजें किसी 'परिभाषा' को निर्मित करती हैं, उन्हें लेकर एक यांत्रिक समझ रखता है। माओ और समीर अमीन सहित प्रत्येक मार्क्सवादी जिसने कभी वर्गीय विश्लेषण किया है, उसने विश्लेषण की अपनी श्रेणियां मार्क्स से प्राप्त की हैं। अगर मार्क्स के अपने कार्य ने, वर्ग जो है, उसे तय करने वाला एक सुनिश्चित पैमाना पेश न किया होता तो ऐसा संभव ही न होता। हालांकि यह सत्य है, कि मार्क्स प्रत्यक्षवादी न थे, और न ही 11 शब्द या सात शब्द की परिभाषा खोज लेने वाले अमेरिकी ढंग के समाज वैज्ञानिक थे जिसे बहुविकल्पी परीक्षा में सही या गलत के रूप में चिह्नित किया जा सके। मार्क्स द्वंद्ववादी थे। उनके लिए वर्ग किसी भी सापेक्षतावादी श्रेणी से बढ़कर है, स्वयं पूंजी की तरह वह एक सामाजिक संबंध है। अपने आप में न तो उत्पादन के साधन और न ही पैसा पूंजी होता है, पूंजी संचयन के माध्यम और रूप तो कुछ विशिष्ट स्थितियों में ही बनते हैं। इसी प्रकार कोई स्वयं में सर्वहारा नहीं होता है। अपने धुर विपक्षी मुख्यतः पूंजीवादी वर्ग के संदर्भ में ही यह अपना अस्तित्व रखता है। वर्गीय संबंधों की उस जटिल संरचना के अंदर ही यह अस्तित्व रखता है जिसे हम समग्रता में पूंजीवाद के रूप में जानते हैं। अगर 'साम्यवाद' द्वारा व्यंजित होने वाला पूंजीवाद न हो, कोई



पूँजीपति वर्ग न हो तब भी मनुष्य काम तो करेगा किंतु कोई सर्वहारा न होगा। संपत्ति, उत्पादन और वितरण के ऐतिहासिक रूप से सुनिश्चित समग्र तंत्र के भीतर विभिन्न प्रकार के कामगार वर्ग और वर्गीय अंश मौजूद रहते हैं। हम किसी सामाजिक निर्मित के भीतर संरचनात्मक स्थितियों को और किसी विशिष्ट वर्ग या वर्गीय अंश के लक्षणों को निर्दिष्ट कर सकते हैं किंतु मार्क्सवाद वर्ग की औपचारिक, अति ऐतिहासिक परिभाषा उस प्रकार से नहीं दे सकता, एक वैसी परिभाषा पेश नहीं कर सकता जो सभी कालों में सभी वर्गों पर लागू हो।

### ग्राम्शी का योगदान

एक धारणा ऐसी भी है जो वर्ग विश्लेषण से एकदम अलगाकर ग्राम्शी को पूर्णतः बौद्धिक और सांस्कृतिक सिद्धांतकार के रूप में पेश करती है। उनका लेखन भी कुछ लोगों द्वारा अपने समय तक की मार्क्सवादी परंपरा से अलगाव के रूप में लिया जा रहा है, यहां तक कि कई तरह से उस (परंपरा) की गहन आलोचना तक के रूप में भी देखा जा रहा है। आप ग्राम्शी को कैसे पढ़ते हैं और मार्क्सवाद को उनका मूलभूत योगदान क्या है ?

ग्राम्शी जब इटली की सोशलिस्ट पार्टी से जुड़े तो उस समय 22 वर्ष के थे, इस सोशलिस्ट पार्टी को स्वयं थर्ड इंटरनेशनल के साथ अपने को संबद्ध करना था। वह उस पार्टी में महत्वपूर्ण नेता बनने की ओर तेजी से उभरे। ग्राम्शी औद्योगिक शहर तूरिन में कामगार परिषद द्वारा संचालित आंदोलन के महान सक्रिय समर्थक थे। वह इस आंदोलन की आलोचना के विरुद्ध अपने तर्कों में अक्सर लेनिन के प्रसिद्ध नारे 'ऑल पावर टु द सोवियट्स' का आह्वान करते थे। और उन्हें आशा थी कि परिषद भविष्य के साम्यवादी गठन का केंद्र बनेगी। बाद में 1921 में वह इटालियन कम्युनिस्ट पार्टी (पीसीआई) के घटक के रूप में उभरे और 1924 में पार्टी के मुख्य नेता बन गए। इस दौरान उन्होंने मास्को में समय गुजारा जहां से वह थर्ड इंटरनेशनल के ब्यूरो से प्राप्त इन निर्देशों के साथ वापस लौटे कि पीसीआई के साथ सभी वामपंथी पार्टियों और ताकतों का एक फासीवाद विरोधी मोर्चा बनाया जाए जिसके केंद्र में पीसीआई हो। किंतु पार्टी में उनके बहुत से सहयोगियों ने इस

स्थिति का विरोध किया। पीसीआई के नेता और मुख्य सिद्धांतकार के रूप में उन्हें गिरफ्तार किया गया और 20 सालों के लिए जेल की सजा दी गई।

जेल डायरी के लगभग 30,000 पृष्ठों में उनके सारे चिंतन के मूल में दो आधारभूत चीजें खास हैं - इटली में वाम की पराजय और फासीवाद की विजय के लिए संरचनात्मक कारण क्या थे - ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक; और एक साम्यवादी दल का पुनर्गठन कैसे किया जाए, एक ऐसे तरीके से कैसे किया जाए जो इटली की स्थिति की विशिष्टताओं को संबोधित करता हो। इस दल के लिए वह 'मॉडर्न प्रिंस' (आधुनिक राजकुमार) और 'द कलेक्टिव इंटेलेक्चुअल' (सामूहिक बुद्धिजीवी) जैसे पदों का इस्तेमाल करते हैं। इस पूरे इतिहास के मद्देनजर अपनी आधारभूत साम्यवादी पृष्ठभूमि से ग्राम्शी को अलगाने की कोशिश बेतुकी है।

एक अर्थ में ग्राम्शी की मूलभूत अवधारणा चीन में जो माओ की अवधारणा थी, उससे बहुत भिन्न नहीं है। 1927 में जब शंघाई में सर्वहारा वर्ग की हार के बाद पार्टी में खलबली मची हुई थी तो माओ ने खुद से एक सरल सा सवाल पूछा: व्यापक अर्द्ध औपनिवेशिक स्थिति में मुख्यतः चीन जैसे कृषक देश में क्रांति के लिए मार्क्सवाद-लेनिनवाद को पुनः सूत्रबद्ध कैसे किया जाए? उनका समाधान सीधा-सादा था: सर्वहारा क्रांति के तर्क को क्रियान्वित करना किंतु कृषक सेना के साथ। जैसा कि विंटर पैलेस के धावे के मामले में हुआ था, वैसे राज्य सत्ता के गढ़ों पर सीधा आक्रमण न करने की रणनीति के साथ औद्योगिक शहरों में क्रांतिकारी सेना के विकास की तुलना में भीतरी कृषक क्षेत्रों में इसका विकास करना। मार्क्सवादी-लेनिनवादी परंपरा में माओ ने विचारों का पूरी तरह से एक नया संग्रह पेश किया था।

ग्राम्शी जब फासीवादी जेल में गए तो पीसीआई सिर्फ पांच साल की थी और उन्हें जेल से तभी छोड़ा गया जब वह बहुत बीमार हो गए, मृत्यु के एकदम समीप पहुंच गए। हमें याद रखना चाहिए कि ग्राम्शी अपने अधिकांश जीवन काल में गंभीर रूप से बीमार रहे थे और 46 वर्ष की उम्र में ही उनकी मृत्यु हो गई थी। तो इस प्रकार एक प्रमुख योरोपीय देश में क्रांतिकारी क्रियान्वयन की समस्या को लेकर

उनका अति मौलिक अवधारणा विचार के क्षेत्र तक ही सीमित रही। इस प्रकार उनकी तुलना माओ से नहीं की जा सकती। लेकिन इनकी अवधारणा समान थी: समुचित साम्यवादी रणनीति तक पहुंचने के लिए अपनी खुद की राष्ट्रीय स्थिति पर ठोस रूप से विचार करना।

### आधार और अधिरचना

ग्राम्शी मार्क्स के गंभीर छात्र थे। मार्क्स की 1959 वाली भूमिका में कुछ उद्धरणों में वह मार्क्स से प्रत्यक्षतः अभिभूत दिखाई देते हैं। उन उद्धरणों में से एक कुछ यों है:

“आर्थिक आधार में आने वाला बदलाव देर-सवेर समग्र विशाल अधिरचना के रूपांतरण का मार्ग प्रशस्त करता है। इस प्रकार के रूपांतरण का अध्ययन करते हुए यह हमेशा जरूरी होता है कि प्राकृतिक विज्ञान की सुस्पष्टता के साथ निर्धारित की जा सकने वाली उत्पादन की आर्थिक स्थितियों के यांत्रिक रूपांतरण और वैधानिक, राजनीतिक, धार्मिक, कलात्मक या दार्शनिक रूपों, संक्षेप में वैचारिक रूपों के बीच विभेद करना जरूरी है। इन वैचारिक रूपों में इस संघर्ष को लेकर लोग सचेत हो जाते हैं और निर्णायक परिणाम को लेकर संघर्ष करते हैं।”

ग्राम्शी ने इससे कई सारे निष्कर्ष निकाले। पहला तो यह कि संरचना और अधिरचना के बीच का संबंध प्रकृति में ही द्वंद्वात्मक होता है और यह इतना दुर्बल (नमनीय) नहीं होता है कि दूसरे के द्वारा एकात्मक रूप से निर्धारित हो पाए। दूसरा यह कि जिस वैज्ञानिक पद्धति से 'उत्पादन की आर्थिक स्थितियों' का बहुत ही सूक्ष्मता के साथ हम विश्लेषण कर सकते हैं, वह (पद्धति) हमें 'वैचारिक रूपों' की समान रूप से समझ प्रदान नहीं करती है; इसके लिए हमें अधिरचना के पूरक किंतु कुछ भिन्न प्रकार के विज्ञान की जरूरत है। तीसरी बात यह कि 'वैचारिक रूप' बहुत सारे हैं और ये एक-दूसरे को आच्छादित करते हैं किंतु तुलनात्मक रूप से इनका स्वायत्त इतिहास है।

बुर्जुआ योरोप की वैधानिक अधिरचना न सिर्फ इसके वर्तमान पूँजीवाद का प्रतिनिधित्व करती है अपितु यह संस्तरणों पर- अत्यधिक तलछटी नींव पर टिकी हुई है। यह नींव कैथोलिक चर्च के कैनन कानूनों और पुराने रोमन साम्राज्य के कानूनों तक पुरानी है। कैथोलिक इटली के लिए जो धार्मिक अधिरचना की

विशिष्टता है, वह एंगलिकन ब्रिटेन या वहाबी इस्लाम के सऊदी संस्करण के लिए वैसी ही नहीं है। इनमें से प्रत्येक की धार्मिक अधिारचना की अपनी ऐतिहासिकता और स्थूलता है। चौथी और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जब कभी आधारभूत कारक और संकट उत्पादन शक्तियों और संबंधों में क्रांतिकारी रूपांतरण के उभार की संभावनाओं को पैदा करते हैं, तो ये “दूसरे वैचारिक रूप ही होते हैं जिनमें लोग इस संघर्ष को लेकर सचेत हो जाते हैं और निर्णायक परिणाम को लेकर संघर्ष करते हैं।”

इस प्रकार वैचारिक रूपों को लेकर होने वाला संघर्ष और इन रूपों से उभरने वाली ठोस चेतना क्रांति के क्रियान्वयन के लिए बहुत ही प्रमुखता पा लेती है। इटली के इतिहास और संस्कृति में पाए जाने वाले इन वैचारिक रूपों के वास्तविक और अनुभवजन्य विश्लेषण में ग्राम्शी की अत्यधिक रुचि और अधिारचना के विज्ञान को सूत्रबद्ध करने की उनकी महत्वाकांक्षा इसी क्रांतिकारी आवश्यकता से उभरती है। यह उत्तर आधुनिक सांस्कृतिकवाद के नए फैशन से नहीं जन्म लेती है।

*एक आरोप यह है कि सोवियत संघ में सर्वहारा की तानाशाही का मार्क्सवादी विचार और लोकतांत्रिक केंद्रवाद से लोकतंत्र को नुकसान हुआ, विशेषतः जोसेफ स्टालिन के समय में। दूसरी ओर, अंतोनियो नेगरी जैसे वामपंथी चिंतक विद्रोह की सैद्धांतिकी परंपरागत कामगार वर्ग के संदर्भ में नहीं गढ़ते अपितु वह किसी एक पार्टी के नेतृत्वमुक्त जन साधारण के संदर्भ में इसे सैद्धांतिक रूप देते हैं। आपकी दृष्टि में साम्यवादी दल की प्रासंगिकता और महत्त्व क्या है ?*

जिन दो धारणाओं का आपने उल्लेख किया है, उनकी उत्पत्ति अलग-अलग है। ‘सर्वहारा की तानाशाही’ की धारणा पीछे मार्क्स तक जाती है। *घोषणापत्र* में स्वयं मार्क्स उदारवादी राज्य को समग्र रूप में बुर्जुआ लोगों की प्रबंध समिति कहते हैं। अन्यत्र उन्होंने इस प्रकार के राज्य को शेष समाज के ऊपर, सामान्यतः और सर्वहारा के ऊपर, विशेष तौर पर बुर्जुआ लोगों की तानाशाही के रूप में वर्णित किया था। इसका मतलब होता है कि मुट्टीभर अल्पसंख्यकों की विशालकाय बहुसंख्यकों के ऊपर तानाशाही। आज की भाषा में आप कह सकते हैं कि ‘एक प्रतिशत लोगों की 99 प्रतिशत लोगों पर तानाशाही’। ‘सर्वहारा की

तानाशाही’ को बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही का सटीक प्रतिवाद होना था। दूसरे शब्दों में यह पूर्ण बहुमत का छोटे से अल्पमत के ऊपर शासन का सूचक था। अथवा आप चाहें तो कहें कि यह पूंजी के ऊपर श्रम की तानाशाही है। लेनिन के प्रसिद्ध नारे – ‘संपूर्ण सत्ता संघ की है’, का मोटा-मोटी वही अर्थ निकला है जो ‘सर्वहारा की तानाशाही’ का होता है। इसका मतलब हुआ कि ज्यादा पूर्ण लोकतंत्र जिसमें संगठन के नए रूपों के माध्यम से विभिन्न प्रकार के श्रमिक स्वयं अपने को प्रस्तुत करते हैं।

इसके विपरीत लोकतांत्रिक केंद्रवाद की धारणा जारवादी निरंकुशता की स्थितियों में गैर कानूनी घोषित, भूमिगत क्रांतिकारी पार्टी के लिए लेनिन की संगठनात्मक अवधारणा की सूचक है। निरंकुशता की ये स्थितियां व्यापक रूप में सामान्यतः राज्य के अत्यधिक दमन वाले दौर में पाई जाती हैं। लेनिन के ही दौर में रोजा लेकजमबर्ग ने पहले ही चेतावनी दे दी थी कि यह संगठनात्मक रूप भिन्न स्थितियों में एक छोटे से गुट के निरंकुश शासन में या वैयक्तिक तानाशाही तक में विकृत हो सकता है। हालांकि, मुझे कहना चाहिए कि हर पार्टी या राज्य अपने अंदर पतन की संभावनाएं लिए रहता है और व्यवहार में कोई अवधारणा कितना अच्छा कार्य करती है, यह उन लोगों पर निर्भर करता है जो उसे क्रियान्वित करते हैं। और यह उन वस्तुनिष्ठ स्थितियों पर निर्भर करता है जो उन लोगों के आचरण को सुनिश्चित करती हैं। स्टालिन के नेतृत्व वाले काल में जिस प्रकार का तानाशाह राज्य उभरा, उसकी उत्पत्तिगत जटिलता के मूल में थी उस समय विद्यमान भौतिक स्थितियां। इसकी उत्पत्ति को किसी एक या दूसरी धारणा तक सीमित नहीं किया जा सकता।

जहां तक (अंतोनियो) नेगरी की बात है तो उसने अपना जीवन एक प्रकार के अतिवादी वामपंथी कार्यकर्ता के रूप में शुरू किया और वह वाम के अतिवादी हरावल किस्म के उग्रवादी समूहों के साथ भी जुड़ा हुआ था। लगभग तीन दशक उपरांत वह उस प्रकार के सैद्धांतिकरण के साथ उभरा जिसे मैं अराजकता के चरम रूप सदृश्य ही देखता हूँ। किंतु वह रूप इतना अजीब है कि वह अमेरिकी साम्राज्यतवाद या निगमीय सत्ता के किसी भी पहचाने जाने वाले केंद्र के अस्तित्व से ही इनकार करता है। ‘बाहुल्यता’ के उसके विचार को कई तरह से समझाया जा सकता है, लेकिन संक्षेप में यह

एक प्रकार की सैद्धांतिक असंगति से पैदा होता है। व्यवहार में यह एनजीओ के संसार वाली विश्वदृष्टि रखता है जो वर्ग संघर्ष को तथ्य मानने से इनकार करती है और ‘सत्ता के बिना संसार को बदलने’ का आह्वान करता है। संक्षेप में पूंजीवाद के ज्यादा मानवीय चेहरे की ओर ले जाने वाले सामाजिक सुधारों की एक शृंखला का आह्वान यह करता है।

अरब जगत के हालिया उथल-पुथल के अनुभव से हमने कम से कम दो चीजें सीखी हैं। जिसे भीड़ का, ऐसी भीड़ का स्वतःस्फूर्त उभार कहा जाता है, जिसके पास कोई स्पष्ट नेतृत्व नहीं होता है, जिसे नेगरी का ‘जन सामान्य’ कहा जाता है, उसके साथ खूब चालबाजी होना तय रहता है। ऐस ही मिस्र में हुआ जहां एक शक्तिशाली जन आंदोलन को बहुत ही जल्द मुस्लिम ब्रदरहूड द्वारा हथिया लिया गया और इसने इस्लामवादियों की चुनावी सफलता की राह प्रशस्त की। इसने मिश्रियों के समग्र जन साधारण को इतना भयभीत कर दिया कि उन्होंने वास्तव में सैन्य तख्ता पलट का स्वागत तक किया, जिसने मुस्लिम ब्रदरहूड की सरकार को उखाड़ फेंका और तहरीर चौक के महान उबाल को एक त्रासद अंत तक पहुंचा दिया। दूसरी ओर कॉरपोरेट एकक्षत्र वर्चस्व वाले वैश्विक इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और इसके द्वारा प्रस्तुत विश्व के दृश्यात्मक प्रतिनिधित्व के द्वारा इस युग में ‘असंख्य लोगों’ को हवा में आभासी रूप से वैसे ही निर्मित किया जा सकता है, जैसा कि लीबिया और सीरिया में किया गया था। पूर्ववर्ती इतिहासों में यह निर्विवाद है कि हिटलर और मुसोलिनी दक्षिणपंथी उन्माद ‘बहुलतावादी जन साधारण’ के सिर पर चढ़कर ही सत्ता तक पहुंचे थे। ‘लोगों’, ‘जन समूहों’ और ‘बाहुल्यता’ इत्यादि के साथ प्रगतिशीलता जैसी चीज अनिवार्यतः नहीं जुड़ी होती है। आंदोलनों और लोकप्रिय वर्गों के उभार में प्रगतिशील तत्व सुनिश्चित करने के लिए वर्ग संगठन और वर्ग संघर्ष जरूरी होते हैं।

### विश्व का अमेरिकीकरण

*वैश्वीकरण के बहुत सारे आयाम होते हैं। यह संस्कृति को कैसे प्रभावित करता है, यह एक महत्वपूर्ण चीज है। वैश्वीकरण का यह सांस्कृतिक चेहरा क्या है? वैश्वीकरण हमारी संस्कृति को कैसे प्रभावित करता है?*

साम्राज्यवाद के अधुनातन दौर के लिए

‘वैश्वीकरण’ शब्द एक बुर्जुआ व्यंजना है। जैसा कि यथार्थ है, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद हमेशा से साम्राज्यवाद का एक मूलभूत आयाम रहा है। साम्राज्यवादी शक्ति का कोई भी विस्तार और गहराई साम्राज्यवादी शक्ति की पकड़ को गहरा करने से भी जुड़ा हुआ है। हमारे समय में इसे नई सूचना तकनीकों विशेषतः दृश्यात्मक तकनीकों द्वारा सुगम बनाया जाता है। यह उच्च संस्कृति के साथ-साथ जन संस्कृति के विभिन्न रूपों पर भी लागू होता है। हॉलीवुड सिनेमा वर्चस्वशील सिनेमाई रूप है, और जिसे मैं ‘कल्पित मौलिकता’ कहता हूँ, कि जबरदस्त खुराक के साथ एशिया या अफ्रीका में राष्ट्रीय फिल्म उद्योग इसी के स्थानीय संस्करण मात्र हैं। अमेरिकी संगीत अब एकमात्र वैश्विक संगीत है और पुनः कल्पित मौलिकता की बड़ी खुराक के साथ विश्व का बहुसंख्यक मध्यवर्ग अमेरिकी संगीत और इसके स्थानीय संस्करणों के अपने अस्वाद के अतिरिक्त तेजी से संगीत के मामले में अस्वादहीन होता जा रहा है। वैश्विक पोशाक संहिता में जींस एक वर्चस्वशील तत्व है और लैंगिक विभाजन से परे भी तेजी से यह ऐसा प्रभुत्वशाली तत्व बनता जा रहा है। मेरा बिल्कुल भी यह मतलब नहीं है कि जीन्स पहनने में या अमेरिकी संगीत सुनने में कुछ प्रतिक्रियावादिता है। लेकिन रोजमर्रा के जीवन में होने वाले ऐसे साधारण से बदलावों और अमेरिकी सांस्कृतिक रूपों के बीच एक वस्तुनिष्ठ संबंध का होना दिखाई देता है।

दूसरी ओर अमेरिकी विश्वविद्यालय प्रणाली दुनिया के हर देश के लिए वस्तुतः प्रौद्योगिकीय-प्रबंधकीय वर्ग, यहां तक कि राजनयिकों और उच्च-स्तरीय प्रशासनिक सेवकों के प्रशिक्षण के लिए भी प्राथमिक स्थल है। वैश्विक स्तर पर राष्ट्रीय शिक्षा तंत्र में अमेरिकी शिक्षा तंत्र का ही अधिकाधिक अनुकरण किया जाता है। पुनः मेरा मतलब यह नहीं है कि अमेरिकी विश्वविद्यालयों में जो अध्ययन करता है या पढ़ता है, वह प्रतिक्रियावादी होता है। इस प्रकार के विश्वविद्यालयों में सदैव से चरमपंथी लोग और असहमति रखने वाले लोग अल्पसंख्यक ही रहते हैं। वैश्विक स्तर पर जीवन के हर क्षेत्र में वैचारिक पुनरुत्पादन के अत्यधिक ताकतवर तंत्र के वर्चस्वशील कामकाज की ओर ही मैं सामान्यतः संकेत कर रहा हूँ। उच्च सिद्धांतों से लेकर सांस्कृतिक निर्मितियों के पुनरुत्पादन तक

और फिर फास्ट फूड जैसी रोजमर्रा की आदतों तक, अपने समस्त आयामों में उत्तरआधुनिकतावाद अनिवार्यतः विश्व का अमेरिकीकरण है। हमारे समाज की वर्ग संरचना में जितना ऊपर आप जाते हैं, अमेरिकी संस्कृति के विभिन्न आयामों के साथ उतना ही एक आम आदमी पहचाना जाएगा। सैन्य लड़ाई के मैदान की तुलना में सांस्कृतिक क्षेत्र में अमेरिकी विजय वास्तव में कहीं ज्यादा प्रभावकारी है। चाहे चीन प्रतिस्पर्धी आर्थिक ताकत के रूप में उभर रहा हो किंतु वहां भी अमेरिकी संस्कृति के विभिन्न रूपों का फैलाव देखने लायक है।

### तीसरी दुनिया या तीन महाद्वीपों वाला संसार?

*तीसरी दुनिया (थर्ड वर्ल्ड) शब्द का इस्तेमाल आमतौर पर दक्षिण के देशों का वर्णन करने के लिए किया जाता है। इसकी जगह आप जैसे लोग ‘ट्राई कॉन्टिनेंटल’ (त्रि महाद्वीपीय) पद का प्रयोग करते हैं। ‘थर्ड वर्ल्ड’ शब्द कैसे आम चलन में आ गया, और ‘ट्राई कॉन्टिनेंटल’ से शब्दावली में आया यह बदलाव क्या सूचित करता है?*

1955 की बांडुंग कॉन्फ्रेंस के समय ‘थर्ड वर्ल्ड’ शब्द एक फ्रांसीसी पत्रकार द्वारा गुटनिरपेक्षता के नए उभरते परिदृश्य हेतु अपने फ्रांसीसी पाठकों के लिए एक आकर्षक पद के रूप में गढ़ा गया था। इस वाक्यांश ने जोर पकड़ा, और विभिन्न लोगों ने, यहां तक कि विभिन्न देशों तक ने विभिन्न मंतव्यों के लिए इसका प्रयोग शुरू कर दिया। मैंने अपनी पुस्तक *इन थ्योरी* के अंतिम अध्याय में इस इतिहास की खोजबीन की है। यूगोस्लाविया के (जोसिप ब्रोज) टिटो जैसे बड़े चेहरे के साथ बांडुंग कॉन्फ्रेंस लगभग पूरी तरह एक अफ्रीकी-एशियाई घटना थी। ‘ट्राई कॉन्टिनेंटल’ पद क्रांतिकारी क्यूबा में उभरा और उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के शिकारों के रूप में लैटिन अमेरिका, अफ्रीका और एशिया की आधारभूत एकता व्यंजित करने के लिए यह चे (ग्वेरा) का विशेष प्रिय था। क्रांतिकारी प्रकाशनों, अंतरराष्ट्रीय कॉन्फ्रेंसों के द्वारा यह पद लोकप्रिय हो गया। मैं कई बार ‘थर्ड वर्ल्ड’ पद का प्रयोग सामान्यतः इसीलिए करता हूँ क्योंकि बहुत सारे लोगों के लिए यह काफी जाना-पहचाना है। लेकिन मैं इसके फ्रांसीसी पत्रकारिता वाले मूल को

नापसंद करता हूँ। इसके क्रांतिकारी उद्गम और क्यूबा के साथ इसके संबंध के कारण मैं ‘ट्राई कॉन्टिनेंटल’ पद को वरीयता देता हूँ।

### धर्म का व्यवसायीकरण

*बहुत सारे लोगों ने सोचा था कि आधुनिकता के साथ और ‘समय गुजरने’ के साथ धर्म सार्वजनिक दायरे से बाहर हो जाएगा और विज्ञान तथा तार्किकता में प्रगति के साथ आधुनिक आदमी के लिए यह कम महत्त्व का हो जाएगा। किंतु इसके विपरीत, धर्म संसार भर में अर्थपूर्ण ढंग से बढ़ रहा है। आप इस बढ़ती धार्मिकता को कैसे समझाएंगे?*

यूरोप के सत्य को हमेशा उसके पीड़ितों की नजर से देखा जाना चाहिए। चर्च और राज्य के बीच औपचारिक विभाजन के संदर्भ में सेकुलरवाद ने निश्चय ही अधिकांश यूरोपीय देशों में संस्था बद्धता अर्जित की थी लेकिन धर्म सार्वजनिक जीवन से गायब नहीं हुआ था। अपने लेख ‘यहूदी सवाल’ में मार्क्स उम्दा ढंग से दिखाते हैं कि अमेरिका में धर्म के निजीकरण ने धर्म को राज्य की पहुंच से दूर रखकर कुल मिलाकर इसे और भी ज्यादा पवित्र बना दिया। यहूदियों के नाजी उन्मूलन में आलोचना से परे चरम उन्माद की सीमा पर पहुंचने तक यहूदी विरोध कमोबेश रूप से सभी पश्चिमी देशों की विशेषता रही थी।

एडवर्ड सर्ईद ने विस्तार से इसे दस्तावेजीकृत किया है कि कैसे इस्लाम के प्रति यूरोप की घृणा कितनी पुरानी, कितनी सतत और कितनी अ-उन्मूलनीय रही है। (थियोडोर डब्ल्यू) एडोर्नो की इस व्यंग्यात्मक टिप्पणी में बहुत कुछ सच्चाई है कि धर्म के गायब होने की जगह इसका सिर्फ वाणिज्यीकरण हुआ है और ईसाई निष्ठा के साथ जो एकमात्र चीज बची, वह थी – पड़ोसियों के प्रति इसका द्वेष भाव। इस्लामोफोबिया पुरानी बीमारी का नया नाम है। यद्यपि, यह भी सत्य है कि पिछले दो दशकों या इतने ही कुछ समय से यह बीमारी बहुत ही प्राणघातक लक्षण दिखा रही है क्योंकि पश्चिम ने लाल सागर और लेवांत से उत्तरी और पश्चिमी अफ्रीका तक मुस्लिम आबादी के विरुद्ध क्रूर युद्ध छेड़ा हुआ है।

संसार के हमारे वाले हिस्से में धार्मिकता का बढ़ना हमारे समय में दक्षिणपंथी प्रभुत्व के विभिन्न रूपों में से एक है। और यह संरचनात्मक रूप से वाम की पराजय और /

## प्राइम टाइम का शोर और चीयर-लीडर बनते लोग

राजेश कुमार

वेद जी भूल भी गए थे। यही नहीं कि वह अब अमूमन वही बोलते हैं, जो आईटी सेल फीड करता है। यह भी कि और सोशल मीडिया पर सक्रिय हजारों-लाखों दिहाड़ी कारिंदों से लेकर मेनस्ट्रीम मीडिया के काश्यपों, चौधरियों, चौरसियाओं, शर्माओं, लियाकतों, गोस्वामियों की प्राइम-टाइम चीख-चिल्लाहटों ने उनके दिमागों में उन्हें ही बेदखल कर दिया है। तो सोचना भी खालिस अपना नहीं है। यह तो पुरानी बात है। छह-सात साल पुरानी तो है ही। भूलना भी। एक के बाद दूसरी और तीसरी और चौथी और ऐसे ही मुसलसल सनसिनियों के प्राइम-टाइम संधान ने चीयर-लीडरों की स्मृतियों से अंतिम तौर पर निबट लिया है। एक्जिट पोल पर तो तीन दिन बाद ही नतीजों की धूल पड़ गई थी। और सच कहूँ तो एक्जिट पोल पर अमित शाह से लेकर वेद जी तक, किसी, को भरोसा भी नहीं था। शाह साहब ने तो नतीजे आने से केवल 10-15 घंटे पहले दोहराया भी था कि बीजेपी 42-45 सीटें जीतेगी। गजब के आत्मविश्वास के साथ। एक महान पत्रकार की बेटी के विवाह समारोह में। काश्यपों, चौधरियों, चौरसियाओं, शर्माओं, लियाकतों, गोस्वामियों की जो बेशर्म फौज है, महानताएं उससे बाहर भी तो हैं ही। बस, कुछ हैं जो पिछड़ गए हैं। प्रतिस्पर्धा तो वहां भी कम गला-काट थोड़े होगी। कुछ तो होंगे ही जो लोक-लाज के बोझ को एकबारगी फेंक न पा रहे हों। आखिर सब अपना सरनेम भूल जाने की हद तक कहां पहुंच सकते हैं। वह भी ऑन एयर।

वह उत्साह में छलक-छलक पड़ रहे थे। वही अपने वेद जी! मिले ही 10-12 दिन पर थे। जब-जब उनकी पार्टी कोई चुनाव हारती है, वह दिखते ही नहीं हैं कई दिन। हो सकता

अथवा पीछे हटने से जुड़ा हुआ है। इंडोनेशिया, ईरान, ईराक, मिस्र, सूडान इत्यादि मुस्लिम देशों के समूह में जहां सेकुलर राष्ट्रवाद और साम्यवाद प्रभावी राजनीतिक प्रवृत्तियां थीं, वहां अपने सलफी और जिहादी रूपों के साथ अब इस्लामिकता वर्चस्वशील है। अगर आप आज के भारत की 50 साल पहले के भारत से तुलना करें तो मोटा-मोटी भारत के विषय में भी यही कहा जा सकता है। निश्चय ही, यह सिर्फ स्थानीय घटनाक्रम नहीं है। साम्राज्यवाद ने जितनी सेकुलर राष्ट्रवाद के खिलाफ जमकर लड़ाई की उतनी ही उसने साम्यवाद के विरुद्ध की, क्योंकि दोनों ने साम्राज्यवादी हितों के खिलाफ गंभीर चुनौती पेश की थी। सभी रंगों की दक्षिणपंथी ताकतों ने इन साम्राज्यवादी हमलों से बहुत कुछ अर्जित किया था।

*इस्लामिक राजनीति विभिन्न देशों में विभिन्न रूपों में खेती जा रही है। राजनीतिक इस्लाम का इतिहास और विकास क्या है? इस्लामिक राजनीति और इस्लामोफोबिया कैसे एक-दूसरे को मजबूत करते हैं?*

राजनीतिक इस्लाम, जैसा कि इसे आज हम इसके विभिन्न रूपों में जानते हैं, पहली बार 70 साल पहले ट्रूमैन रणनीति की निगहबानी में खड़ा किया गया था जिसमें यह स्वतःसिद्ध मान लिया गया था कि सऊदी अरब का बहावी इस्लाम और मुस्लिम ब्रदरहुड का सलफी इस्लाम मध्यपूर्व (पश्चिम एशिया) में साम्यवाद के विरुद्ध सबसे विश्वासनीय बचाव हैं। मध्य पूर्व पर नियंत्रण रखना पश्चिम के लिए जरूरी था क्योंकि यही वह स्थान निकला जहां औद्योगिक विश्व के रणनीतिगत रूप से सर्वाधिक महत्वपूर्ण कच्चे माल, पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैसों के सबसे बड़े भंडार अवस्थित थे। अमेरिका के खुफिया विभाग और बगावत विरोधी तंत्र ने विश्व भर में गहनता से इस्लामिक चरमपंथियों का फायदा उठाने के साथ-साथ उन्हें पैदा भी किया।

जैसे ही अफगानिस्तान में एक प्रगतिशील और साम्यवादी रुझान रखने वाली सरकार उभरी, वैसे ही अमेरिका ने उन ईश्वरविहीन साम्राज्यवाद विरोधियों के खिलाफ इस्लामिक जेहाद के लिए 40 देशों से एकत्रित किए गए और सीआइए (सेंट्रल इंटेलिजेंस एजेंसी) और सऊदी अरब द्वारा भुगतान पाने वाले मुजाहिदीनों से एक साम्यवाद विरोधी शक्ति खड़ी करने का जुगाड़ कर लिया।

मुस्लिम ब्रदरहुड के नेताओं का पहले व्हाइट हाउस में राष्ट्रपति (ड्वाइट डेविड) आइजनहावर द्वारा स्वागत किया गया था। अमेरिका के खिलाफ होने से पहले ओसामा बिन लादेन सीआइए की परिसंपत्ति था। जैसे-जैसे यूएस और उसके सहयोगियों ने मुस्लिम देशों के विरुद्ध अधिकाधिक युद्ध छेड़े, वैसे-वैसे हर स्वतंत्र पत्रकार और विद्वान ने चेताया कि ये हमले अनिवार्यतः पश्चिम विरोधी आतंकवादियों की एक पूरी नई नस्ल पैदा कर देंगे।

किंतु अमेरिका जानता था कि वह क्या कर रहा है। अधिकांशतः छोटी-मोटी आधा दर्जन घटनाओं को छोड़कर कुल मिलाकर दो दशकों तक वह जिहादी आतंक को पश्चिमी देशों से बाहर रखने में उल्लेखनीय रूप से सफल रहा जबकि यह लाखों लोगों की मौत होने, विध्वंस होने और बेघरबार होने की निंदा भी करता रहा था। एक समग्र आबादी के खिलाफ अंतहीन युद्धों की इस पृष्ठभूमि में अमेरिका विभिन्न जिहादी संगठनों के साथ एक जटिल खेल खेलता है - अपने हितों को संकट में डालने वालों के साथ लड़ना, लेकिन जब जरूरत पड़े तब संसार के विभिन्न हिस्सों में झोंकने के लिए उनमें से कइयों को अलग बचाकर रखना। लीबिया और सीरिया में पहले ही इन्हें लगाया जा चुका है और मध्य एशिया के मुस्लिम बहुल गणराज्यों के साथ-साथ चीन के बहुसंख्यक मुस्लिम आबादी वाले क्षेत्रों में भी निकट भविष्य में इन्हें छोड़े जाने की बहुत संभावना है। जिहादी आतंक के हाथों बहुत कम पश्चिमी लोग मारे गए हैं किंतु इस आतंक ने विभिन्न देशों और महाद्वीपों में सैकड़ों-हजारों मुसलमानों को मारा है। इन विशिष्ट रूपों में साम्राज्यों के ये खेल हमारे दौर के घिनौने लक्षण भी हैं। ■

अनु.: प्रमोद मीणा

साभार: फ्रंटलाइन, विशेष अनुमति से प्रकाशित

*जिप्सन जॉन और जितीश पी एम ट्राइ कॉन्टिनेंटल सोशल रिसर्च इंस्टीट्यूट में अध्येता हैं और हिंदू, द कारावन, द वायर तथा मंथली रिव्यू समेत विभिन्न राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय प्रकाशनों में इनका योगदान रहता है।*

है, यह इत्तफाक भर हो - केवल गुमशुदगी नहीं, खुशी के मौकों पर यह प्रकटोत्सव भी। खुशी का, उत्सव का सबब तो था ही उन जैसों के लिए। आखिर उच्चतम अदालत के लगभग उच्चतम जज ने सर्टिफिकेट दे दिया था। मुझे तो परम पूज्य अरुण मिश्रा जी की टिप्पणी ने परम पूज्य देवकांत बरुआ की याद दिला दी थी। 'इंदिरा इज इंडिया, इंडिया इज इंदिरा' वाले देवकांत बरुआ। जगमोहन लाल सिन्हा की नहीं, जस्टिस एच.आर. खन्ना की भी नहीं। सरकारी सेवा में रहते हुए यशपाल कपूर का चुनाव एजेंट की तरह इस्तेमाल और रायबरेली में चुनाव सभा के लिए राज्य सरकार की मदद से मंच बनवाने और अन्य सुविधाएं लेने के आरोप में एक पीएम का चुनाव खारिज कर दिया जाना आज भले दूसरी दुनिया की बातें लगे, पर इलाहाबाद हाईकोर्ट के जज जगमोहन लाल सिन्हा ने यही किया था। उन्होंने रायबरेली से इंदिरा गांधी का निर्वाचन रद्द कर दिया था। और जस्टिस एच.आर. खन्ना के हाथ तो ऐसा कोई श्रेय भी नहीं आया। उनके पास तो बस असहमति दर्ज कराने का रास्ता था, पांच जजों की पीठ के शेष चार जज, इमरजेंसी के समय में 'अनधिकृत हिरासत और यातना तक के मामलों में कानूनी राहत मांगने का अधिकार स्थगित होने के केंद्र के पक्ष पर पहले ही सहमति की मुहर लगा चुके थे। एडीएम जबलपुर बनाम श्रीकांत शुक्ला मामले में चार जजों का बहुमत का यह फैसला, जस्टिस खन्ना पलट नहीं सकते थे, बस असहमत होकर देश के मुख्य न्यायाधीश होने का अवसर खो सकते थे। वह यह जानते भी थे और कहते हैं कि चार जजों के फैसले को 'अराजकता पर मुहर' बताने से केवल एक दिन पहले जस्टिस खन्ना ने अपनी बहन से कहा था कि उन्हें इस असहमति की कीमत सीजेआई नहीं हो पाने तक से चुकानी पड़ेगी। यही हुआ भी। यह नहीं कि वेद जी ने जस्टिस खन्ना का नाम ही न सुना हो। दीपक मिश्रा के अवकाशग्रहण से पहले उन्होंने मुझी से बारहा कहा होगा कि 'सीनियर मोस्ट जज को सीजेआई बनाना जरूरी थोड़े हैं, आखिर आप की इंदिरा जी ने भी एच.आर. खन्ना की सीनियोरिटी की ऐसी-तैसी कर एम.एच. बेग को चीफ जस्टिस बनाया ही था। उन्होंने कहा नहीं, पर अंडरस्टूड था कि हम भी करेंगे अब सीनियोरिटी की ऐसी-तैसी। हम मतलब

सरकार। उनकी इस तर्क-पद्धति में अजीब कुछ भी नहीं है। वेद जी ही नहीं, मुहल्ले में मुझे ऐसी दलीलें देने वाले मिलते ही रहते हैं। आपको भी मिलते ही होंगे। चीयर लीडर और होता क्या है? नेता ने कुछ कहा नहीं कि डांस शुरू। आप कहेंगे-जीडीपी नोज डाइव कर रही है, वे कहेंगे-पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्था मंदी की चपेट में है, आप कहेंगे-बेरोजगारी दर आज 45 सालों में सबसे निचले स्तर पर है, वे कहेंगे-जैसे 70 सालों में तो कोई बेरोजगार ही नहीं था, आप कहेंगे-क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के ताजा आंकड़े बताते हैं कि किसानों से ज्यादा, बेरोजगार युवा आत्महत्या कर रहे हैं, वे पूछ बैठेंगे-किसानों को ज्यादा करना चाहिए था क्या?... यह आंखों और दिमाग को गिरवी रखना है। आप कुंदजहनी कह लीजिए। और गोगोई पर तो उनका रंज गैर-वाजिब भी नहीं था। दो साल पहले, सुप्रीम कोर्ट के चार जजों की वह प्रेस कॉन्फ्रेंस याद कीजिए, जिसमें तब के सीजेआई पर कोर्ट में मामलों की सुनवाई के रोस्टर बनाने में मनमर्जी का आरोप लगाया गया था। कहते हैं कि मेडिकल कार्डसिल घोटाले में किसी से घूस लेने देने का कोई ऑडियो टेप सीबीआई के कब्जे में था और सीजेआई की जान पिंजरे में बंद तोते में। प्रेस कॉन्फ्रेंस में गोगोई ही तो थे, जिन्होंने एक सवाल पर हामी भर दी थी कि हां, एक मुद्दा लोया की हत्या की इंडीपेंडेंट जांच वाली याचिकाएं जस्टिस अरुण मिश्रा की पीठ के सुपुर्द करने का भी है। वेद जी की चिंता नाजायज भी नहीं थी कि यही तेवर बना रहता तो पता नहीं गोगोई जी रफाल खरीद के और जाने किन-किन मामलों में क्या-क्या जजमेंट दे देते। पर उन्हें कभी सूझा ही नहीं कि सीनियोरिटी की अनदेखी के अलावा भी गोगोई का कोई इलाज है। बाद में, सेक्सुअल एक्सप्लॉयटेशन के आरोप, उस प्रकरण में सीजेआई को क्लीन चिट और रफाल सौदे से लेकर राम मंदिर तक के मामलों में उनके फैसलों पर मुझे से चर्चाओं में वेद जी कई बार अपनी सूझ-समझ की सीमा पर शर्मिंदा भी दिखे और चोटी के अपने नेताओं की इस दूरदर्शिता के कायल भी कि 'दूसरे तरीकों से हो हो गया विश्वामित्र का इलाज'।

इत्तफाक देखिए, वही अरुण मिश्रा पीएम को 'वर्सेटाइल जीनियस', 'इंटरनेशनली एक्लेम्ड विजनरी' और जाने क्या-क्या बता रहे थे, ऐसा नेता, जो ग्लोबली सोचता और

लोकली ऐक्ट करता है। और वेद जी मुदित थे। मैंने कहा कि वह 'इंडिया एंड द चेंजिंग जुडीशियरी' पर एक इंटरनेशनल सेमिनार में बोल रहे थे तो अग्ने ने जुगलबंदी की, 'जुडीशियरी एंड द चेंजिंग वर्ल्ड' पर इंटरनेशनल जुडीशियल कांफ्रेंस में। मेरा तंज उसकी नजर से ओझल रहा। मैंने व्यंजना में कहा था, उसने अभिधा में समझा। इनोशेंस को यों ही मूर्खता का समानार्थी नहीं कहते।

अंजनेय तो उस दिन भी परेशान थे। दूर से ही हाथ हिलाकर बोले थे, "खुश तो बहुत होंगे आप! एक्जिट पोल्स वही कह रहे हैं, आपकी ही बात, आम आदमी को 50 से 60 तक सीटें!" पर वेद जी? वह तो मतगणना से पहले तक मानने को तैयार न थे कि केजरीवाल फिर सरकार बनाने के आसपास भी पहुंच पाएंगे। 10 की बात होगी। पूरा जमावड़ा था पार्क में - वेद जी, उनके अग्ने, सुनील सैनी, अग्रवाल साहब। दो-एक अपरिचित से चेहरे भी। अग्रवाल साहब ने तो मतदान के दिन ही कह दिया था कि राजेश गुप्ता से अपनी नजदीकी है, वोट तो उसे ही दूंगा इस दफा भी, पर जीतेगा नहीं। 2015 की बात और थी।

जाड़ों की विदाई की आहटों के साथ वेद जी लीनेन के पैंट-शर्ट पर उतर आए थे। अभी शर्ट फुल था, उस पर बर्फानुमा डिजाइन के साथ टर्क्वॉयस कलर का, आधे बाजू का एक स्वेटर भी। एक्जिट पोल देखे तो उन्होंने भी होंगे, शायद अपने प्रिय एंकर सुधीर तिहाड़ी को भी। वह उनकी सोशल रेसिपी का जरूरी इनग्रिडिएंट है। जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो की तर्ज पर बहसों में वह आए दिन जी-टीवी कोट कर देंगे, पर कहेंगे तिहाड़ी ही - एसे, मानों यही असली सरनेम हो, मानो असली सरनेम उन्हें पता ही न हो। पर वह बड़बड़ा नहीं रहे थे कि दिल्ली की जनता के लिए राम मंदिर, अनुच्छेद 370, कश्मीर, बालाकोट एयर स्ट्राइक जैसी बातें कोई मायने नहीं रखती, या कि यह खतरा कि देश में मुगलों का राज वापस आ जाएगा। एक्जिट पोल ने उनका संतुलन नहीं बिगाड़ दिया था। इत्मीनान में थे कि देते रहो मुफ्त की बिजली-पानी, वोट इस पर थोड़े पड़ी है कि मुफ्त में कौन-कौन सी चीज कहां पर लगी हुई है, कि सेल कहां पर लगी हुई है। अंजनेय कुछ कहते, इससे पहले सुनील सैनी ही बोल पड़े कि और भाजपा कौन-सा ये रियायतें वापस लेने जा रही है!

जहां झुग्गी, वहीं मकान अलग से।

वेद जी ने दखल दिया कि वह सब ठीक है पर उस पर नहीं पड़ा है वोट इस बार। लोग जानते हैं कि साजिश क्या है। वह तेजी में थे। पता नहीं किस चीज की हड़बड़ी में। मेरी ओर मुड़े और बोले कि '50 सीटें साहब, हमारी पार्टी को 50, कल बात करुंगा आप से।'

मेरा तो भरोसा ही हिल गया था, वेद जी के इत्मीनान से। अमित शाह से भी पांचेक सीट ज्यादा। चुनाव पर, पुलिस, कानून और दंड प्रक्रियाओं पर, न्याय की व्यवस्था पर भरोसा इन दिनों होता भी बहुत कम है – मजबूरी के पतले से धागे से लटका हुआ। एक झटका लगा और टूटा। जमीनी तौर पर एकदम साफ दिख रहा होगा कि जन-भावना तो इस पार्टी के खिलाफ और उस पार्टी के पक्ष में है, लोग तो इस पार्टी के या इसके समर्थन से ताल ठोक रहे उम्मीदवारों को क्षेत्र में सभाएं तक नहीं करने दे रहे, पर नतीजा आएगा और सारी समझ को सिर के बल खड़ा कर देगा। करते रहिए फिर आप सैकड़ों निर्वाचन क्षेत्रों में वोट्स पोल्ट और टोटल वोट्स काउंटेड के आंकड़ों के मिसमैच की बातें, चुनाव आयोग अपने वेबसाइट से आंकड़े ही हटा लेगा, करते रहिए आप वीवीपैट की पर्चियां मिलाने की मांग, आयोग पर्चियां ही जलवा देगा। उनका जो इत्मीनान था, और मेरा डिग जाना भी – दोनों, सभी संवैधानिक प्रक्रियाओं के मटियामेट हो जाने और सत्ता के सामने, लगभग सभी संस्थाओं के चाकर हो जाने से पैदा हुआ था।

उनका और उन जैसों का जो उत्साह था, वह मुझ तक पहुंचते-पहुंचते दुश्चिन्ताओं में बदल जाता था। 10 को भी, 10-12 दिन बाद भी, बल्कि उसके आगे-पीछे फैले समय के पूरे विस्तार में। फर्क बस इतना था कि सत्ता उनके आकाओं के हाथ में थी और आकाओं से लेकर उन तक के इस भरोसे में भी कि सत्ता तो, अब आने वाली सदियों तक उन्हीं के पास बनी रहेगी।

“यही जज साहब थे न, जिन्होंने घूस कांड की जांच करवाना भी जरूरी नहीं माना था? अब इतना वर्सेटाइल जीनियस भला सहारा-बिड़ला से 25-50 करोड़ की रिश्वत लेगा क्या?” – जाने कब शर्मा जी पास खिसक आए थे और जाने कब से चेजिंग जुडीशियरी का आख्यान सुन रहे थे। ■

## फिल्म और परिवार

आनंद पटवर्धन की शुरुआती क्लासिक फिल्मों पर एक पुनर्दृष्टि

### विद्यार्थी चटर्जी

बीती 18 फरवरी को आनंद पटवर्धन 70 वर्ष के हो गए। पहले भी उनके बारे में कहा जा चुका है कि वह “अपने आप में एक किस्म की परिघटना रहे जिस तरीके से वह सरकारी स्तर पर निष्ठुरता, अस्वीकार्यता और स्पष्ट भेदभाव” का शिकार हुए। यह और बात है कि किसी भी उस रचनात्मक कलाकार का रास्ता शायद यही होना चाहिए, जो एक यथास्थितिवादी या अज्ञानतापूर्ण जगत को शिक्षित करने, उजागर करने, सूचित करने, सुधारने और प्रभावित करने के अपने संकल्पित प्रयासों के क्रम में राजनीतिक कुरीतियों, सामाजिक नाइंसाफियों और आर्थिक गैरबराबरी से जूझने को तैयार बैठा हो।

आसान शब्दों में कहें तो, पटवर्धन देश के सर्वाधिक ख्यात और सम्मानित डॉक्युमेंट्री निर्माता हैं। यहां तक पहुंचने में उनके चार दशक का ठोस काम है जिस दौरान तमाम मोर्चों पर वह अपनी मेधा और सामाजिक चेतना के साथ जुटे रहे। आज उनका रसूख यह है कि उनके आलोचक भी उनकी फिल्में चुपचाप देखते हैं और सम्मान के साथ उनसे बहस करते हैं। समूचे उपमहाद्वीप में और इसके पार भी पटवर्धन को सराहा जाता है तो एक निडर और अथक एक्टिविस्ट के रूप में, एक सचेतक के बतौर जो भारतीय समाज में व्याप्त विविध सामाजिक बुराइयों के खिलाफ लिखने, बोलने और विरोध प्रदर्शन आयोजित करने में आज भी अपना वक्त सबसे ज्यादा देता है। चाहे सांप्रदायिकता का मसला हो, वर्ग असमानता का, राजनीति का या फिर मजदूर वर्ग के हालात और लिंग/जाति आधारित विभेद का, पटवर्धन ने इन सभी मुद्दों पर एक साथ बराबर दृष्टि, उर्जा और साहस के साथ वक्त दिया है।

अपनी शुरुआती श्वेत श्याम डाक्युमेंट्री से पटवर्धन सामाजिक रूप से जागरूक दर्शकों की निगाह में आए, जिनमें *वेक्स ऑफ*

*रेवॉल्यूशन* (इंदिरा गांधी के अधिनायकवादी राज के खिलाफ जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में बिहार से उठे जनान्दोलन पर) और *प्रिजनर्स ऑफ कॉन्शिएंस* (भारत के राजनीतिक बंदियों पर) प्रमुख रहीं। सत्तर के दशक के मध्य और उत्तरार्द्ध में जिस चेतना और संवेदना ने इन फिल्मों को जन्म दिया, उसी का विस्तार बाद में हमें बड़े कैमवास पर *हमारा शहर* में दिखता है (*बॉम्बे आवर सिटी*, रंगीन, 35 एमएम, 82 मिनट, 1985)। शहरी अमीरी और वैभव के समानांतर गरीबों, बेरोजगारों और बेघरों के आक्रोश और आंसू को दर्शाने वाली इस फिल्म ने पटवर्धन को सबकी नजर में ला दिया।

एक सर्जन की दक्षता की भांति सेलुलॉइड पर अपने औजारों से इस फिल्मकार ने भारत की वाणिज्यिक राजधानी की परत दर परत को उघाड़ा, जो लोगों की निगाह से अब तक छुपे हुए थे। पुलिस वाले रिबेरो से लेकर उद्योगपति गोदरेज और आम आदमी सुखतांकर तक हरेक कर्तव्यनिष्ठ किरदार को काफी करीब से छीलने का उन्होंने काम किया। तब तक किसी भी फिल्म ने नगर निकायों, पुलिसवालों, नेताओं, कारोबारियों और विज्ञापन गुरुओं के बीच के नापाक गठजोड़ को इस तरीके से उजागर नहीं किया था, जो मुंबई को मिलकर चमकाने और चलाने का काम करते हैं।

पटवर्धन हमारा शहर के बारे में कहते हैं, “यह स्पेस और संरचना की राजनीति पर एक निबंध है जो इस देश के अतार्किक विकास के खाके को रेखांकित करता है।” यह फिल्म राजनीतिक वृत्तचित्र की दिशा में एक तीव्र मोड़ है जो साथ ही एक समाजशास्त्रीय टिप्पणी के रूप में भी सामने आती है। इस फिल्म ने काउंटर सिनेमा के विकास की राह प्रशस्त की।

पटवर्धन ने विविध तत्वों से तिनका-तिनका जोड़ के अपनी संवाद और पड़ताल की शैली में हमारा शहर का निर्माण किया। इन

तत्वों में प्रचुर मात्रा में लाइव फुटेज, नाटकीय दृश्य, तस्वीरें, मुक्ताकाश संगीत, अदि शामिल हैं। इन सभी को मजदूर वर्ग के प्रतिरोध और वर्गीय उत्पीड़न के तत्वों के रूप में दर्शाया गया है जहां सब कुछ लोकतंत्र और कानून के नाम पर हो रहा है ताकि बंबई को सुंदर और साफ रखा जा सके। हमारा शहर के साथ वृत्तचित्रों की परंपरा में निहित आक्रोश को सहज साधारण तरीके से पटवर्धन ने आगे बढ़ाने का काम किया, वहां से जहां उसे सुखदेव और लोकसेन लालवानी जैसे शुरुआती प्रणेता छोड़ आए थे।

विभिन्न अभिजात्य समूहों की शह पर संवेदनहीन नगर निगम द्वारा झुगियों को गिराए जाने की घटना उन अनगिनत उखड़े हुए परिवारों के इतिहास को उघाड़ कर सामने ला देती है जिन्होंने एक नहीं जाने कितनी बार अपनी रिहाइश खोई है। पहले गांव से रिहाइश उजड़ी तो वे बंबई शहर आए और अधिकतर निर्माण मजदूरों में लग गए जहां उनकी रक्षा के हित कोई यूनियन मौजूद नहीं थी। उन्होंने वहां जो घर बनाए उन्हें भी सरकारी आदेश पर ढहा दिया गया। उनके लिए जिन प्रतिनिधियों ने आवाज उठाने की कोशिश की वे अपमान और उत्पीड़न की ऐसी कहानियां सुनाते हैं जिन्हें किसी सभ्य समाज में नहीं होना चाहिए।

मसलन, फिल्म में देह से जर्जर एक बूढ़ी दादी अपनी गोद में अपने पोते को चिपकाए हुए है और वह तमिल में बताती है कि कैसे जो लोग उनके घर ढहाने आए और उन्हें भगाने आए उन्होंने उनके साथ जानवरों जैसा व्यवहार किया। एक युवा महिला अपना गुस्सा प्रेस पर निकालते हुए कहती है कि कैसे रिपोर्टर और फोटोग्राफर जो झुगों ढहाने के समय वहां आए उन्होंने दोबारा यह जानने की जरूरत नहीं समझी कि आखिर इन परिवारों का क्या हुआ। एक पैर पर उछल रहा एक शांत लेकिन आक्रोशित व्यक्ति बहुत तार्किक तरीके से सवाल करता है कि आखिर क्यों सरकार और अदालतों को इनके मामले में न्यायपूर्ण और करुणा से संचालित निर्णय लेना चाहिए। हर अगला बयान पिछले से कहीं ज्यादा उद्घाटनकारी है। जिन्होंने भोगा है उन्हें ऐसा लगता है कि पत्थरदिल वाले लोगों को बदलना मुमकिन नहीं है।

इंसान का स्वभाव चाहे जैसा भी हो लेकिन विस्थापितों और उत्पीड़ित को इतनी आसानी

से हतोत्साहित करना संभव नहीं है। जो बात उन्हें यह करने से रोकती है, वह स्पेसलेस यानी जगह के मारे लोगों की आपसी एकजुटता है। हिंदू, मुस्लिम, दलित, यहां सब एक हो जाते हैं, खासकर तब जब मुंबई में बारिश आती है। परिवार एक दूसरे से खाना साझा करते हैं। वे एक दूसरे के दुख दर्द बांटते हैं। उजड़े हुए परिवारों की तस्वीरें, चाहे वह कुदरती आपदा के कारण हों या मानव निर्मित आपदा के चलते, दरअसल सभी को इस देश में मिली संवैधानिक और कानूनी गारंटी के इर्द-गिर्द बुने जाने वाले मुहावरे पर एक टिप्पणी है। यह एक विडंबना भी प्रस्तुत करती है और इस बात पर जोर देती है कि कैसे पैसे वालों और अभिजात्यों के लिए बड़े-बड़े होटल, इमारतें और घर बनाने वाला आदमी खुद बेघर रहने को मजबूर है। यही वह वैपरीत्य है जो उत्पीड़क के बयानों में और चमक उठता है जब वे विध्वंस की कार्रवाइयों को सही ठहराते हैं। यह ऐसा सबक है जिससे कोई भी विश्वविद्यालय कभी नहीं देगा।

जगह के मारे लोगों की आपसी एकजुटता रोजमर्रा के संघर्षों की अंगीठी में पककर तैयार हुई है जिसे काफी गहराई और फोकस के साथ अलग-अलग दृश्यों में संयोजित किया गया है। ऐसा ही एक मारक दृश्य एक मुसलमान परिवार में एक बच्चे की मौत का है। एक ओर जहां उसकी मां लगातार रो रही है जिसे मना पाना भी संभव नहीं है, वहीं दूसरी ओर उसका पिता गोद में मरे हुए बच्चे को लेकर चुपचाप टहल रहा है। यह दृश्य ऐसी वेदना प्रकट करता है जिसे किसी भी भाषा में जाहिर करना संभव नहीं है। मां की गोद से जब बच्चा छीना जाता है तो उसकी चीख-पुकार और कब्रगाह तक जाते हुए शांत लोगों के इर्द-गिर्द मुंबई के ट्रैफिक की चिल्लपों एक विपरीतार्थक मुहावरा रचती है, जहां इतने बड़े महानगर में कोई भी इस गरीब आदमी की त्रासदी से कोई मतलब नहीं रखता, एक बच्चे की मौत और एक महानगर की संवेदनहीनता एक दूसरे को मुंह चिढ़ाते नजर आते हैं।

पटवर्धन की फिल्मकारी में छोटे तबके के परिवारों की कहानी निरंतर सामने आई है जिसमें वे राज्यसत्ता के विभिन्न औजारों के माध्यम से समाज की तलछट में रहने वाले लोगों पर की जा रही नाइंसाफियों को सामने लाते हैं जिसके पीछे समाज के अभिजात्य

तबके की शह है। जाहिर है, संपादन से लेकर सभागार में प्रदर्शन तक की प्रक्रिया पटवर्धन की फिल्मों के मामले में इतनी आसान नहीं रही है। बस इतनी गनीमत रही है कि एक ओर जहां इस फिल्मकार को प्रतिबंधित करने के लिए तमाम तरह की ताकतें लगी रहीं वहीं दूसरी ओर कानून की अदालतों ने पटवर्धन को राहत दी और उन्हें काम करते रहने की सहूलियत मुहैया कराई।

पटवर्धन अपनी फिल्मों के माध्यम से जिन परिवारों की कहानियां दिखाते रहे हैं क्या ऐसे वंचित परिवारों के अस्तित्व और चेतना पर उनसे कोई फर्क पड़ा है? इसका जायजा लेना हो तो आपको उन जगहों पर जाना चाहिए जहां ऐसे परिवार पाए जाते हैं और जब उनके बीच में पटवर्धन की फिल्मों का प्रदर्शन किया जाता है।

40 साल पहले और उसके बाद लगातार सैकड़ों दर्शक देश के अलग-अलग हिस्सों में *हमारा शहर* का प्रदर्शन देखने के लिए जुटते रहे, हजारों लोग मुंबई और उसके आसपास के शहरों में *जय भीम कॉमरेड* को देखने के लिए घंटों खड़े रहे। यह हालिया फिल्म दलित आंदोलन के इतिहास और समकालीन को दर्शाती है, आंबेडकर की संतानों की किस्मत और बदकिस्मती दोनों को दिखलाती है। यह एक महान फिल्म है जो आज के दलितों की निजी और सामूहिक अस्मिता से ताल्लुक रखती है और उसके समानांतर भारतीय राष्ट्र-राज्य व समाज के दिवालियापन पर भी टिप्पणी करती है। इसकी जड़ें भी हमारा शहर तक जाती हैं, जिसमें पलायन कर के आए मजदूरों का शहरी मध्यवर्ग और उच्चवर्ग के द्वारा दोहन व उत्पीड़न दिखाया गया है।

प्रवासी श्रमिकों और उनकी रिहाइशों के विध्वंस के ताकतवर विमर्श के चलते देशभर में हजारों समर्थक जुटा लेने के अलावा *हमारा शहर* को देश में और देश के बाहर तमाम पुरस्कार मिले हैं, जिसमें सर्वश्रेष्ठ नॉनफिक्शन फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार और पेरिस में सिनेमा डी रील का स्पेशल जूरी पुरस्कार शामिल है, लेकिन इन उपलब्धियों में एक नई ऊंचाई तब जुड़ी जब 1986 में फिल्मफेयर ने इसे सर्वश्रेष्ठ फिल्म का पुरस्कार दिया, जो कि खुद मुंबई के व्यावसायिक सिनेमा उद्योग का एक खोखला प्रवक्ता है। यह पुरस्कार इस बात का संकेत था कि फिल्म बड़े पैमाने पर जनता

द्वारा सराही गई है।

पीछे मुड़कर देखने पर आज *हमारा शहर* की सबसे बड़ी उपलब्धि यह लगती है कि इसने वृत्तचित्रों की परंपरा में एक निर्णायक मोड़ लाने का काम किया। उस वक्त तक डॉक्युमेंट्री को सरकारी प्रचार का माध्यम समझा जाता था लेकिन इसके बाद से यह कड़ी टूट गई और दुस्साहसिक वृत्तचित्रों का एक समूचा घराना पैदा हो गया। इस परंपरा से विचलन करने वाले फिल्मकारों में शुरुआती नाम रहे रंजन पारित और वसुधा जोशी, जिन्होंने ग्रामीण उड़ीसा में सरकार की एक रॉकेट प्रक्षेपण इकाई के निर्माण के खिलाफ हो रहे आंदोलन पर फिल्म बनाई जिसका नाम था *वॉयसेस फ्रॉम बलियापाल*। इसी तरह चलम बेनूरकर ने तमिलनाडु के शिवकाशी में पटाखा बनाने वाले छोटे बच्चों पर *चिल्ड्रन ऑफ कुट्टी जापान* नाम की फिल्म बनाई।

जिसे हम न्यू इंडियन डॉक्युमेंट्री कहते हैं, उसके प्रणेता के रूप में अगर किसी को भी माना जा सकता है तो वह हैं पटवर्धन, जो न केवल अपने समकालीनों को अपने निजी उदाहरण से प्रेरित करते हैं बल्कि अपने अनुयायियों को भी प्रभावित करते हैं।

एक ऐसी दुनिया की तलाश में, जहां धार्मिक और राजनीतिक असहिष्णुता थोड़ी कम हो, जहां वर्ग, लिंग, आस्था और विचारधाराओं के बीच का घर्षण तर्क, उम्मीद, करुणा की एकजुटता के साथ प्रतिस्पर्धा करता हो, आनंद पटवर्धन अपने 'इंपरफेक्ट' कैमरे के साथ सचेतन और जागरूक तरीके से लगातार आगे बढ़ते जाते हैं और उनका साथ देने के लिए उनके पास लगातार उनका अपना विवेक मौजूद है। *हमारा शहर* और उसके बाद आने वाले क्लासिक वृत्तचित्र एक बात साफ करते हैं कि पटवर्धन चीजों को जस का तस नहीं लेते, अपने सुविधाजनक खेल में नहीं रहते, जबकि उन्हें पता है कि यह उपमहाद्वीप मानव निर्मित आपदाओं की बाढ़ में खतरे के निशान पर पहुंच चुका है। राज्यसत्ता जहां वैज्ञानिक प्रगति, देशभक्ति, राष्ट्रीय गौरव या किसी भी नाम से आमजन के लिए बौद्धिक चारा पैदा कर रही है, ऐसे भ्रम और झूठों के बावजूद पटवर्धन की फिल्मों में कुछ परिवार बेशक ऐसे हैं जो दमन और खतरों के बावजूद राज्यसत्ता के आगे घुटने टेकने को तैयार नहीं। यह परिवार ही पटवर्धन की फिल्मों की ताकत हैं। ■

अनु.: अभिषेक श्रीवास्तव

श्रद्धांजलि

## साहित्य में एक संत

पंकज बिष्ट

कृष्ण बलदेव वैद (27 जुलाई 1927- फरवरी 2020) से मेरी पहली ठीक-ठाक मुलाकात सागर के एक कार्यक्रम में हुई थी जिसका आयोजन मध्य प्रदेश कला साहित्य परिषद ने किया था। उन दिनों, यह 85 के आसपास की बात होनी चाहिए, विजय मोहन सिंह भी उसी संस्था से जुड़े थे और उस आयोजन विशेष के संयोजक थे। आयोजन मुख्यतः कथा साहित्य पर था और सागर विश्वविद्यालय में आयोजित था। त्रिलोचन शास्त्री उन दिनों सागर में ही थे, संभवतः रैजिडेंट राइटर के रूप में। यह वह दौर था जब अशोक वाजपेयी मध्य प्रदेश में साहित्य संस्कृति के सर्वेसर्वा हुआ करते थे और कई लेखक, संस्कृतिकर्मी तथा कलाकार भोपाल में जमा थे।

वैद जी भोपाल से ही आए थे जहां वह निराला सृजन पीठ के निदेशक थे। आयोजन के दौरान उनसे कोई विशेष बातचीत नहीं हुई थी। वह अत्यंत मंद स्वर में अपनी बात पूरी तटस्थता से बिना किसी आवेग के कहा करते थे। उनकी पश्चिमी साहित्य की गहरी समझ अक्सर उनके संवादों को और भी जटिल कर देती थीं। ऐसी स्थिति में उनके अत्यंत सामान्य तरीके से कहे गए व्यंग्यों को समझना भी मुश्किल हो जाता था। इसलिए वहां उन्होंने क्या कहा, वह मुझे याद नहीं रहा।

मैंने उन्हें दिल्ली में देखा जरूर था और नमस्कार वगैरह भी होता था, पर बहुत ही औपचारिक रूप से। बातचीत का कभी मौका नहीं मिला था। वास्तव में मैं ही उनसे बात करने की कभी हिम्मत नहीं जुटा पाया था। मैंने सुन रखा था कि उन्होंने हेनरी जेम्स पर पीएचडी की है और वह अमेरिका में पढ़ाते हैं। वह शायद जाड़ों में दिल्ली आया करते थे, जहां उनका मकान है। एमए के दौरान मेरा एक पेपर अमेरिकी साहित्य का जरूर था और हेनरी जेम्स के

नाम से भी मैं परचित था पर वह सब ज्ञान, अज्ञान के बराबर ही था। उनके महत्त्व का मुझे अंदाज नहीं था।

तब तक उनके कम से कम पांच उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे इसके बावजूद उन्हें न तो वह प्रतिष्ठा मिल पाई थी और न ही लोकप्रियता जो राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा और मोहन राकेश जैसे लोगों को मिली हुई थी। उनका पहला उपन्यास *उसका बचपन* 1957 में प्रकाशित हुआ। मुझे उनका दूसरा उपन्यास *विमल उर्फ जाएं तो जाएं कहां* तत्काल देखने को मिल गया था। वह समीक्षा के लिए *आजकल* में आया था। यह 74 की बात है। मैं तब उपन्यास पढ़ नहीं पाया था। इसका एक कारण उपन्यास के खिलाफ तब माहौल खासा असहिष्णु था। वैद जी की प्रयोगधर्मिता से पूरा हिंदी समाज कुल मिला कर सहज नहीं था। यह हिंदी साहित्य जगत की असहिष्णुता के अलावा उस पर एक खास तरह के कठमुल्ला आलोचकों की जकड़ता का भी संकेत कहा जा सकता है। अगर राजेंद्र यादव को छोड़ दें तो नई कहानी के दिग्गजों में कोई ऐसा नहीं बचता जिसका उपन्यास के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान हो। इसका सबसे अच्छा उदाहरण कमलेश्वर हैं जो अंततः बंबईया फिल्मों और टीवी धारावाहिकों के लेखक के रूप में लोकप्रिय हुए। सच यह है कि उस दौर का सारा कथा लेखन, विशेषकर उपन्यास लेखन जिस तरह के सतहीपन से भरा है उसे बहुत हुआ तो लोकप्रिय साहित्य की श्रेणी में रखा जा सकता है।

अब मुझे ठीक से याद नहीं आ रहा है कि सागर से लौटते हुए कहीं हम लोगों ने ट्रेन बदली या सागर स्टेशन पर ही हम कई घंटे साथ रहे थे। हुआ यह था कि हमारी ट्रेन 36 घंटे देर से आ रही थी। इसी के



चलते हमारा साथ हो गया था। साथ में रमाकांत और संभवतः योगेश गुप्त भी थे जिनके साथ खासी बदनजगी हो गई थी। वैद जी भोपाल को लौट रहे थे और हम दिल्ली को। वहीं पहली बार उनसे बात करने का मौका मिला था। तब मैंने पाया कि वह जितने सुंदर दिखने के थे उतने ही सुंदर इंसान भी थे।

मेरे प्रति वह खासे उदार लगे। वह सामान्य बातचीत में बेमतलब गंभीर नहीं रहा करते थे बल्कि हल्की-फुल्की मजाक करते रहते थे। जिससे मुझे सहज होने में समय नहीं लगा। समय काटने के लिए हम लोग चाय पी रहे थे। बातचीत में उन्होंने कहा, “आप बुरा न मानें तो एक बात कहना चाहता हूँ।”

मैं उत्सुकता से उनका मुंह देखने लगा था। मेरे लिए यह कम बड़ी बात नहीं थी कि उन्होंने *लेकिन दरवाजा* पढ़ा था। सच यह है कि उन्होंने उपन्यास की सीधे-सीधे तारीफ नहीं की। कहा, “जॉन बायज नाम गलत है। यह आदमी का नाम है, जबकि आप जिसकी बात कर रहे हैं वह औरत है। उसे ‘जोन’ होना चाहिए।”

मैं उस गलती को जानता था। मैंने कहा, यह प्रूफ रीडर के कारण हुआ है और बता दिया कि गलती कै से हुई। असल में प्रकाशक उपन्यास को तत्काल छापने को उत्सुक थे। मैंने अरविंद कुमार से कहा भी था कि इसमें कई संदर्भ विदेशी हैं, मैं उन्हें देखना चाहूँगा। अरविंद जी ने मुझे यह कहते हुए आश्वस्त कर दिया कि हमारे प्रूफ देखने वाले डॉक्टर हैं, आप निश्चिंत रहें। मुझे इसी बीच कुछ समय के लिए दिल्ली से बाहर जाना पड़ा था। जब तक मैं लौटा उसके तीन-चार फर्में छप चुके थे।

मैंने प्रूफ देखते ही उन्हें बता दिया कि गलती हो गई है। अब यह आप की जिम्मेदारी है। वह मान गए थे। मैंने यथावत पूरा किस्सा वैद जी को सुना दिया। संभवतः उन्हें यकीन नहीं हुआ। उन्होंने अरविंद कुमार से पूछा और फिर जब उनसे दिल्ली में खासे अंतराल के बाद मुलाकात हुई तो उन्होंने कहा, “आप सही कह रहे थे। मैंने अरविंद से बात की थी।”

यह उनका बड़प्पन था। वह चाहते तो बात को दबा सकते थे। मैं इस बीच *विमल*

*उर्फ जाएं तो जाएं कहाँ* पढ़ चुका था। लोग कहते हैं उन पर जेम्स जॉयस का असर है। *यूलिसिस* किस भी सामान्य पाठक के लिए एक आतंककारी रचना है। मैंने इसे पढ़ने की कोशिश की थी पर जल्दी ही छक्के छूट गए। पर *विमल* पढ़ते हुए वैद जी की प्रयोगधर्मिता ने मुझे चकित कर दिया था। ऐसे समय में जब नई कहानी का बोलबाला हो और भावुकता, रोमांटिकता, रागात्मकता और नाटकीयता राज कर रही हो, पठनीयता का चतुर्धा दबदबा हो कोई लेखक लगभग किसी संन्यासी की सी निरपेक्षता से लिखता चला जाए, यह सामान्य नहीं है। उसकी प्रतिबद्धता की दाद दिए बिना नहीं रहा जा सकता है।

वैद जी व्यक्ति की निजता और उसके अंतर्मन के अप्रतिम रचनाकार हैं। उनके पात्रों का एकांत सामाजिक बने-बनाए ढांचे में फिट न हो पाने वाले व्यक्तियों के संघर्ष का दस्तावेज है। इसे असामाजिक व्यक्ति का संघर्ष नहीं बल्कि एक निजी व्यक्ति का समाज में अपनी जगह बनाने का द्वंद्व कहा जा सकता है जिसे लेखक एक सधी हुई तटस्थता से अभिव्यक्त करता है। यह व्यक्ति की निजी दुनिया की पड़ताल है। मैं यह नहीं कहता कि फॉर्म या शैली ही अंतिम होती है पर मैं मानता हूँ कि अभिव्यक्ति के नए रूपों की तलाश कलाओं की आधारभूत शर्त है।

मैं आलोचक नहीं हूँ पर एक पाठक के रूप में, बल्कि कहना चाहिए एक कनिष्ठ लेखक के नाते, मेरी यह सहज प्रतिक्रिया है।

90 के दशक में मेरी उनसे निकटता बढ़ी शायद वह तब दिल्ली में ज्यादा रहने लगे थे और कहीं न कहीं आयोजनों में चंपा जी के साथ मिल जाया करते थे। इसी दौरान एक बार नेशनल बुक ट्रस्ट की एक पुस्तक चयन कमेटी में वैद जी और कृष्णा सोबती के साथ मुझे भी रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन दिनों अरविंद कुमार वहां निदेशक थे। शायद हम लोग दो दिन घंटों साथ रहे। किताबें छांटने के अलावा कृष्णा जी और वैद जी की निकटता को देखने का मौका मिला। संयोग से वे दोनों ही अविभाजित पंजाब के गुजरात जिले के थे। कृष्णा जी उनसे सिर्फ दो वर्ष बड़ी थीं। उस

उबाऊ काम के दौरान सबसे मजेदार बात यह थी कि वह बीच में किताबों के संदर्भ से ही ऐसे चुटकुले बना देते की मैं हंसते-हंसते लोट-पोट हो जाता था। लेकिन जब वह कुछ संकेतात्मक बातें करते तो मुझे मुंह फेर लेना पड़ता था।

इसी बीच मैं *आजकल* में चला गया था। मैंने उनसे एक मुलाकात में व्यक्तिगत रूप से रचना मांगी। उन्होंने बिना किसी लेखकीय लटके के कहा, भेज दूंगा। और उनकी रचना को आने में देर नहीं लगी। सच यह है कि उनकी रचनाओं को सामान्य पत्र-पत्रिकाओं में कम ही जगह मिलती थी। पर जहां तक मैं जानता हूँ उनका लिखना कभी बंद नहीं हुआ। वह ऐसे रचनाकार थे जो लेखन के प्रति पूरी तरह समर्पित थे। मुझे शंका है उनकी अभी भी कई रचनाएं अप्रकाशित होंगी। मैं जब तक रहा उनकी रचनाएं *आजकल* में लगातार छपती रहीं। उनकी सहधर्मिणी चंपा जी कवि थीं। उनकी कविताएं भी उस दौरान *आजकल* में छपी हैं।

वैद जी की शालीनता का मैं कायल हूँ। 1994 की बात है। उसी वर्ष दिल्ली से अंग्रेजी दैनिक *एशियन एज* ने प्रकाशित होना शुरू किया था। उसमें हमारे मित्र मोहम्मद असलम ने गॉसिप कॉलम लिखना शुरू किया। चूंकि वह हिंदी जगत से भी खासे जुड़े हुए थे इसलिए हिंदी के लेखकों पर भी लिखते रहते थे। इसी स्तंभ में उन्होंने सबसे पहले राजेंद्र यादव और मन्नु भंडारी के अगल होने का समाचार छपा था।

एक दिन असलम हांपते हुए मेरे कमरे में दाखिल हुए। इससे पहले कि उन्हें पानी पीने को कहता वह बोले, “आपने टाइम देखा है?”

मैंने कहा देखा तो है। उसमें क्या है?

आप ने नहीं देखा, उसने दोहरा।

असल में वह दिसंबर 1994 का अंतिम अंक था और उसमें पत्रिका ने भविष्य के 50 संभावित नेताओं सूची छपी थी। मैंने आदतन उसे उलट-पटल कर देखा जरूर था। उसमें मेरी कोई रुचि नहीं थी। वह मुझे उठाकर पुस्तकालय ले गए। सौभाग्य से वहां अंक पड़ा हुआ था। उसने मुझ से सूची के लगभग अंत में छपे एक भारतीय नाम के बारे में पढ़ने को कहा। वह एक एलजीबीटी

कार्यकर्ता के बारे में था।

असलम ने पूछा, आप समझे यह कौन है ?

मेरी समझ में नहीं आया था। उसने कहा, यह कृष्ण बलदेव वैद की बेटी हैं। मैं 'हूँ!' के अलावा और कुछ नहीं कह पाया।

वापस कमरे में लौटते ही उसने कहा, वैद जी का नंबर दे दीजिए। मैंने साफ कह दिया, मैं नंबर नहीं दूंगा। वह मुस्कराया और बोला मैं यहां से फोन नहीं करूंगा।

उसने क्या लिखा मैं देख नहीं पाया पर बाद में जब बात हुई तो मैंने उससे पूछा, वैद जी से बात हुई ? तो उसने बतलाया कि उनका उत्तर था, हां वह मेरी बेटी है पर वयस्क है और अपनी तरह से रहती है।

जहां तक उर्वशी वैद का सवाल है वह सिर्फ एलजीबीटी एक्टिविस्ट ही नहीं हैं बल्कि अमेरिका की एक नामी वकील हैं और बड़ी सामाजिक कार्यकर्ता हैं। वियतनाम युद्ध के खिलाफ आंदोलन में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

नौकरी से मुक्त हो जाने के बाद भी यदाकदा उनसे मुलाकात हो जाया करती थी। एक दिन उन्होंने मुझे से पूछा क्या कर रहे हैं तो मैंने बतलाया एक पत्रिका निकाल रहा हूँ। वह बोले हमें भेजिये।

मैंने उन्हें डरते-डरते पत्रिका भेजनी शुरू कर दी। मैं जानता था वह यही नहीं कि वामपंथी नहीं हैं बल्कि वामपंथियों से प्रताड़ित भी हैं। थोड़े दिन बाद उनका एक पत्र मिला। खोला तो उसमें पांच हजार का चेक था। आजीवन शुल्क। जब तक वह भारत में रहे अक्सर फोन पर बात हो जाया करती थी। वह अपनी राय भी दिया करते थे।

उनकी प्रताड़ना का आखिरी किस्सा कम बड़ा नहीं है। 2009 में दिल्ली की हिंदी अकादमी की निर्णायक समिति ने उस वर्ष के शलाका सम्मान के लिए कृष्ण बलदेव वैद का चयन किया था। यह बात लगभग सार्वजनिक हो चुकी थी। मगर जब सम्मानों की आधिकारिक घोषणा हुई तो वैद जी का नाम गायब था। यह कैसे हुआ ? इसका उत्तर तत्कालीन पुरस्कारों और अकादमियों की राजनीति को समझे बगैर नहीं दिया जा सकता।

हुआ यह कि पुरस्कारों पर नियंत्रण करने वाले वामपंथी गुट की करीबी एक महिला

लेखिका शलाका पुरस्कार के लिए तड़प रही थीं। हर संभव प्रयत्न के बावजूद जब उक्त लेखिका को पता चला कि पुरस्कार उन्हें नहीं दिया जा रहा है तो उन्होंने वैद जी के किसी उपन्यास के कुछ पन्नों की प्रतिलिपियां बनाईं, चुनकर उसकी पंक्तियों को रेखांकित किया और तत्कालीन मुख्यमंत्री शीला दीक्षित के पास पहुंचा दिया। यानी वैद जी को अश्लील लेखक के रूप में प्रस्तुत कर दिया। उसी का परिणाम था कि उन्हें पुरस्कार नहीं मिल पाया। यद्यपि इसका विरोध भी हुआ और उस वर्ष सम्मानित होनेवाले कई लेखकों ने अपने पुरस्कार लौटा दिए पर इसने हिंदी साहित्य की क्षुद्रता और दृष्टिहीनता को सिद्ध कर दिया ही दिया साथ में यह भी बतला दिया कि साहित्य की अकादमियों को क्यों सरकार से मुक्त होना चाहिए।

यह वैद जी का बड़प्पन है कि उन्होंने इस बारे में कभी एक शब्द नहीं कहा। पर मेरा सौभाग्य है कि मुझे एक ऐसा पुरस्कार मिला है जिसे पहले उन्हें दिया गया था। वह है अयोध्याप्रसाद खत्री सम्मान।

संभवतः हिंदी के लेखकों और उसके समाज को ऐसे दौर में जब उनके बच्चे हिंदी से दूर हो चुके हैं इस बात को भूलना नहीं चाहिए कि वैद ऐसे लेखकों में हैं जो कई गुना आसानी से अंग्रेजी के लेखक हो सकते थे। अगर ऐसा होता तो निश्चय ही उन्हें कई गुना ज्यादा सम्मान मिलता। पर उन्होंने हिंदी को ही चुना और यह कोई छोटी बात नहीं है।

उनकी रचनाएं हैं:

उपन्यास : *उसका बचपन, नर नारी, नसरीन, विमल उर्फ जाएं तो जाएं कहां, दूसरा न कोई, गुजरा हुआ जमाना, काला कोलाज, माया लोक, एक नौकरानी की डायरी, दर्द ला दवा।*

कहानी संग्रह: *बीच का दरवाजा, मेरा दुश्मन, पिता की परछाईयां, रात की सैर, बोधिसत्व की बीबी, बदचलन बीबियों का द्वीप, वह और मैं।*

नाटक संग्रह: *भूख आग है, हमारी बुढ़िया, सवाल और प्रश्न।*

डायरी: *अब क्या चीज है, हवा क्या है* सैम्युएल बेकेट के प्रसिद्ध नाटक *वेटिंग फॉर गोदो* के अलावा और भी कई लेखकों का उन्होंने अनुवाद किया है। ■

**पांच वर्ष का ग्राहक बनिए  
और इस संग्रहणीय पुस्तक  
को उपहार स्वरूप पाईये!**

## पूँजीवाद का संकट और मार्क्सवाद की चुनौतियां

**समयांतर** के फरवरी 13  
विशेषांक से चुने हुए लेखों के  
अलावा कुछ नए लेखों सहित

संपादक

कृष्ण सिंह

पृ.सं.: 250, मूल्य: रु. 150

**समयांतर का प्रकाशन**

संपर्क

व्यवस्थापक

79-ए दिलशाद गार्डन

दिल्ली - 110095

## टेलीविजन धारावाहिकों की स्त्रियां

### बेबी विश्वकर्मा

धारावाहिकों में स्त्री चरित्र का कोरा विभाजन पूर्णतः प्रतिगामी है जो स्त्री के शोषण में तथा स्त्री को पुरुष अधीनस्थ बनाए रखने की साजिश में सहभागी बनता है। वर्तमान स्त्री के समक्ष जीवन जीने की अनेक संभावनाएं खुल गई हैं। वह पुरुष आश्रित नहीं बल्कि आत्मनिर्भर बनने का विकल्प चुन सकती है, उसकी आशा, आकांक्षाएं बदल रही हैं लेकिन बदलते परिप्रेक्ष्य में बदल रही स्त्री जीवन के विविधरंगी पक्षों का जिक्र धारावाहिकों में बहुत कम है।

हिंदी के टेलीविजन धारावाहिक अक्सर 'आदर्श स्त्री चरित्र' के मिथ को चरितार्थ करते नजर आते हैं। प्रायः सभी धारावाहिकों में एक ही कहानी भिन्न-भिन्न पैकेजिंग के साथ चलती है जहां पितृसत्ता का बोझ ढोती 'आदर्श भारतीय स्त्रियां' सजी-सजाई गुलदस्ते के रूप में दर्शक के सामने पेश की जाती हैं। स्त्री की पारंपरिक छवि का प्रचार-प्रसार इन धारावाहिकों द्वारा हो रहा है जहां नायिकाएं पुरुष स्वीकृत व्यवहार एवं पुरुषनिर्मित नियमों का नतमस्तक होकर पालन करती हैं। पुरुषवर्चस्ववादी समाज व्यवस्था में रूढ़ हो चुकी स्त्री छवि को अधिक दृढ़ करते हुए इन धारावाहिकों में स्त्री चरित्र का मुख्यतः दो ही पक्षों का चित्रण मिलता है - या तो स्त्री लज्जाशील, पारंपरिक, आज्ञाकारी, पतिव्रता, दया, त्याग, क्षमा, सहनशीलता की प्रतिमूर्ति 'आदर्श भारतीय नारी' है, नहीं तो अधम विचारों वाली कुटनी, पतिता है जो अपनी सारी ऊर्जा एवं जीवन के अमूल्य क्षण उस 'आदर्श नायिका' के विरुद्ध षड्यंत्र रचने में व्यतीत करती है।

स्त्री चरित्र का यह कोरा विभाजन पूर्णतः प्रतिगामी है जो स्त्री के शोषण में तथा स्त्री को पुरुष अधीनस्थ बनाए रखने के साजिश में सहभागी बनता है। वर्तमान स्त्री के समक्ष जीवन जीने की अनेक संभावनाएं खुल गई हैं। वह पुरुषआश्रित नहीं बल्कि आत्मनिर्भर बनने का विकल्प चुन सकती है, उसकी आशा, आकांक्षाएं बदल रही हैं लेकिन बदलते परिप्रेक्ष्य में बदल रही स्त्री जीवन के विविधरंगी पक्षों का जिक्र धारावाहिकों में

बहुत कम है। एक ओर समाज में महिलाएं मुक्ति की, सम अधिकार की लड़ाइयां लड़ रही हैं, बंद दीवारों को तोड़कर बाहरी दुनिया में प्रवेश करने के लिए संघर्षरत हैं तो दूसरी ओर प्रचलित धारावाहिकों की स्त्री पात्र घर की चारदीवार के संकुचित दायरे में चौका-बर्तन के साथ सिमटकर रह गई हैं। दूरदर्शन द्वारा प्रसारित 'उड़ान', 'शांति' जैसे धारावाहिकों में आधुनिक महिला की परिवर्तित होती छवि उभरकर आई जो महत्वाकांक्षी थी, सशक्त थी, अपनी पहचान बनाने के लिए व्यवस्था को चुनौती दे रही थी। छोटे पर्दे पर एकता कपूर का पदार्पण हिंदी धारावाहिकों के इतिहास का दूसरा पड़ाव था जहां स्त्री चरित्र प्रगतिशीलता को त्याग पुनः रूढ़िवादिता की ओर लौटे। यथार्थ से दूर हटता इन धारावाहिकों में प्रायः एक दरिद्र या मध्यवर्गीय स्त्री का विवाह अमीर घराने में होता है और उसकी कहानी उसी घर से शुरू होकर उसी घर के अंदर खत्म हो जाती है। 'औरत ही औरत की दुश्मन है' - पितृसत्ता द्वारा फैलाए गए इस भ्रम को सच्चाई में तब्दील करती इन 'क' धारावाहिकों की कहानी सास-बहू, ननद-भाई, बहन-बहन के बीच की अतिरंजित हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या के इर्द-गिर्द घूमती रहती है। एकता कपूर का धारावाहिक 'क्योंकि सास भी कभी बहू थी' अब तक का सर्वाधिक जनप्रिय एवं आठ साल की सर्वाधिक लंबी अवधि तक चलने वाला धारावाहिक रहा है। इन धारावाहिकों का ऐसा गहरा असर भारतीय दर्शकों के मानस पर पड़ा कि इतने दशक गुजरने के बाद आज भी ऐसी ही एकरसता में डूबी कहानियों को देखने की

धूम मची रहती है।

कई धारावाहिक आए जिनकी शुरुआत तो आशाजनक लगी परंतु अंततः वे भी 'सास-बहू' की साजिशों में उलझकर रह गए। कलर्स द्वारा प्रसारित 'उड़ान' एवं स्टार प्लस द्वारा प्रसारित 'दीया और बाती हम' की परिकल्पना तो अनोखी थी लेकिन जैसे ही 'उड़ान' की चकोर जवान हुई तो उसकी भूमिका भी क्रांतिकारी से 'बहू' तक सीमित होकर रह गई। दूसरी ओर आईपीएस अफसर बनने की महत्वाकांक्षा रखने वाली 'दीया और बाती हम' की संध्या घूंघट ओढ़े पति और ससुराल वालों को खुश करने में व्यस्त हो गई। महत्वाकांक्षी महिलाओं की सकारात्मक छवि, कामकाजी महिलाओं की जीवन से जुड़ी समस्याएं हिंदी धारावाहिकों में बहुत कम उभरी हैं। एक लोकप्रिय धारावाहिक 'ससुराल सिमर का' में सिमर की नौकरी करने या न करने का फैसला एक साधारण लड्डू के स्वाद के ऊपर निर्भर करता है। क्योंकि एक आदर्श भारतीय स्त्री के जीवन में पति और परिवार ही सर्वोपरि हैं जिनकी सेवा करना, जिनके द्वारा स्वीकृति प्राप्त करना ही स्त्रीत्व का लक्ष्य है। उनके कहने पर स्त्री अपना करियर तो बचा अपनी सारी आशा-आकांक्षाएं, कष्ट अर्जित दक्षता त्याग सकती है क्योंकि परम आज्ञाकारी बनना ही उसका धर्म है। इसीलिए करियर उन्मुख महिला की कहानी उपकथा हो सकती है, मूलकथा नहीं।

हिंदी टीवी धारावाहिकों की विडंबना यह है कि इनकी कहानियां स्त्री केंद्रित होने के बावजूद स्त्री का सफल प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ हैं। स्त्री के प्रति इनका दृष्टिकोण एक आयामी रहा है। स्त्री की 'बहू' या 'बेटी' छवि ही सर्वत्र दिखता है जिनका जीवन घर के भीतर ही गृहकलह और रोने-धोने में बीतता है। पारंपरिक लिंगगत भूमिकाओं को दृढ़ कर रही इन धारावाहिकों में स्त्रियां पुरुष आश्रित हैं, घर के मर्द ही आर्थिक जिम्मेदारी निभाते हैं और पारिवारिक जिम्मेदारी का भार स्त्री पर होता है। इसके अतिरिक्त अन्य भूमिकाओं में स्त्री चरित्रों का चित्रण बहुत कम है। इन धारावाहिकों में प्रेम और रोमांस के नाम पर कतिपय आपत्तिजनक विचारों को बढ़ावा मिल रही है जो स्त्री के शोषण एवं उत्पीड़न का कारण बनती हैं। बहुपत्नीत्व, जबरन विवाह हिंदी धारावाहिकों का प्रिय विषय है।

‘कसौटी जिंदगी की-2’, ‘कुमकुम भाग्य’, ‘कुंडली भाग्य’, ‘इश्कबाज’, ‘इस प्यार को क्या नाम दूं’, ‘तू सूरज में सांझ पियाजी’ आदि लगभग सभी लोकप्रिय धारावाहिकों की कहानी एक-सी है जहां लड़की शादी के लिए राजी नहीं होती है फिर भी किसी न किसी बहाने, बदले या अन्य किसी भावना से लड़का जबरन शादी कर लेता है। लड़की चूँकि संस्कारी भारतीय नारी है अतः विवाह संबंध को सफल बनाना चाहती है और धीरे-धीरे उसे अपने जबरदस्ती के पति से प्रेम भी हो जाता है। इस प्रकार विवाह के नाम पर किए गए जबरदस्ती एवं अत्याचार का रूमानीकरण किया जा रहा है लेकिन हमारे दृष्टि में तो ऐसा व्यवहार एक अपराध है। जबरदस्ती के संबंध से शांति और प्रेम नहीं क्रोध, अशांति, अतृप्ति, पछतावा ही मिल सकती है। इन धारावाहिकों की कहानी आधुनिक रंग-ढंग के सहारे सामंती विचारों की ओर रुख मोड़ रही हैं, जिस समय स्त्री केवल एक खूबसूरत ‘वस्तु’ मानी जाती थी। जिसे भी उसका सौंदर्य भा गया उसके पास उस स्त्री को जबरन उठा ले जाने का स्वतंत्रता प्राप्त था। स्त्री को पाने के लिए युद्ध होता था परंतु स्त्री की अपनी इच्छा-आकांक्षाओं का कोई मूल्य नहीं था। क्योंकि कहा तो यही जाता है कि ‘स्त्री की ना में भी हां’ छिपी रहती है। जबरन विवाह के माध्यम से इन धारावाहिकों में स्त्री के संपत्तिकरण की उस सड़ी-गली मान्यता को हवा मिल रही है। टीवी में कई ऐसे धारावाहिक भी आए जो सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाने का दावा करते हैं। ‘बालिका वधू’ कलर्स का एक बहुचर्चित लोकप्रिय धारावाहिक है जिसका उद्देश्य बाल-विवाह से जुड़ी समस्याओं का चित्रण था। परंतु बाल विवाह में फंसी बच्ची का भय, दर्द, उलझन को दर्शक के सामने रखने के बजाय कपड़ों-गहनों से सजी पति की हवेली में खेलती-कूदती ‘आनंदी’ के जरिए बाल-विवाह को ग्लैमर ही मिलता है। बहुपत्नीत्व और बहुविवाह जैसे कुरीतियों को भी टीवी धारावाहिक इसी प्रकार बढ़ावा दे रहे हैं।

स्त्री देह को लेकर भी इन धारावाहिकों के जरिए भ्रामक अवधारणाएं फैल रही हैं। आदर्श चरित्र के साथ ही आदर्श देह का एक अवास्तविक परिधि तय की जा रही है जिसे हासिल न कर पाने पर युवा लड़कियां मानसिक तनाव की शिकार होती हैं। कपड़ों के

आधार पर स्त्री के विचारों और चरित्र का निर्धारण आज किया जा रहा है। इन धारावाहिकों ने साड़ी, सलवार को संस्कारी, अबला, सकारात्मक स्त्री छवि के साथ जोड़ा, तो दूसरी ओर जिंस, स्कर्ट आदि को आधुनिक, बोल्ड विचारों वाली अथवा नकारात्मक स्त्री छवि से जोड़ा। आम जनजीवन में इसका एक और प्रभाव यह भी पड़ा कि पारंपरिक परिधान पहनी स्त्री को देखते ही पूर्वाग्रह से उसे गंवार, बुद्धिहीन, दब्बू समझा जाता है। एक स्त्री क्या पहनना पसंद करती है क्या नहीं, यह पूर्णतः उसके अपने चुनाव पर निर्भर होता है। परंतु यह विषय चिंतनीय है कि बाहरी आवरण के लिए पहना हुआ महज एक कपड़ा स्त्री के चरित्र का मापक कैसे बन सकता है! उसके संपूर्ण व्यक्तित्व को किस प्रकार परिभाषित कर सकता है!

स्त्री शोषण का एक प्रमुख कारण स्त्री की अज्ञानता एवं व्यवस्था से समझौता भी है। चूँकि हमारा समाज पितृसत्तात्मक है अतः एक स्त्री का जन्म, पालन-पोषण भी पुरुष वर्चस्ववादी परिवेश में होता है। परिवार संस्था के अंतर्गत बचपन से ही उसे पितृसत्ता द्वारा निर्मित आचार संहिता का पालन करने की सीख दी जाती है। स्त्री मानस का इस प्रकार अनुकूलन होता है कि दासत्व में ही उसे गौरव का अनुभव होता है। स्त्री के अपने ही मन में बैठे पुरुषवादी मूल्यों के जड़ों को ये प्रचलित धारावाहिक खाद-पानी देने का काम करते हैं। स्त्री के आज्ञाकारी, दब्बू, आत्मबलिदानी छवि को महिमामंडित करते ये धारावाहिक स्त्री सशक्तिकरण के दिशा में हमें एक कदम और पीछे की ओर धकेलते हैं।

स्त्री की एक ही जड़ छवि को दिखाने से बेहतर है स्त्री पक्ष के अलग-अलग पहलुओं को सामने रखा जाए। केवल सपन्न घरों की नहीं, सामान्य दरिद्र एवं मध्यवर्गीय स्त्री के संघर्ष को भी दिखाया जाए। स्त्री जीवन की भिन्न-भिन्न संभावनाओं को भी खोजा जाए। स्त्री के महिमामंडित अतिवादी स्वरूप को नहीं यथार्थ छवि को दिखाया जाए जहां स्त्री अपने सारे गुणों-अवगुणों के साथ समस्त विरोधाभासों के सहित अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज कर रही हो।

टीवी धारावाहिकों की विषय-वस्तु को लेकर उठे प्रश्नों को अक्सर यह कहकर टाल दिया जाता है कि ये काल्पनिक कथाएं हैं जो

फुसंत के वक्त बैठी घरेलू महिलाओं को मनोरंजन का खुराक देती हैं। लेकिन एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि मीडिया में जनता को प्रभावित करने की प्रखर शक्ति होती है। वह चाहे तो किसी विचार को ध्वंस या पुनर्जीवित कर सकता है। इन धारावाहिकों के माध्यम से स्त्री की जो रूढ़, जड़ और पुरुष स्वीकृत छवि का सामान्यीकरण हो रहा है वह समाज को नकारात्मक ढंग से प्रभावित कर सकता है। यहां ध्यान देने योग्य एक और बात यह भी है कि आज की युवा पीढ़ी टीवी के स्थान पर मनोरंजन के लिए नेटफिलक्स, एमोजन प्राइम, यू ट्यूब जैसे ऑनलाइन प्लेटफॉर्म पर प्राप्त वेब सीरीज की ओर उन्मुख हो रही हैं। यदि टीवी धारावाहिक भी ‘सास-बहू’ के स्थान पर वेब सीरीज की भांति नया, अनोखा और मनोग्राही विषयवस्तु लाए तो युवा पीढ़ी का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है जिससे उनके दर्शकों की संख्या में भी बढ़ोतरी होगी। साथ ही महिला दर्शकों की रुचि में भी नया स्वाद जुड़ जाएगा। ■

#### संदर्भ सूची :

1. जोशी, रामशरण, *मीडिया मिथ और समाज*, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, 2007.
2. बर्णवाल, हरीश चंद्र, *टेलीविजन की भाषा*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011.
3. Palaparambil, Jacob, *Real to Reel (Unwrapping the Portrayal of Women in Indian Television Mega Serials)*, Educreation Publishing, 2016.
4. Hiremath, S Tejaswini, 2013. *Women and culture in the serial of Ekta Kapoor a study*. Ph D thesis. Available at <<http://shodhganga.inflibnet.ac.in/handle/10603/147257>> [Accessed vztth September, 2019]
5. Nagamallika, Gudipaty. *Representation of Family in Indian Television Serials*. Available at <[www.journalstudiesanthropology.ro/en/representation-of-family-in-indian-television-series/a109/](http://www.journalstudiesanthropology.ro/en/representation-of-family-in-indian-television-series/a109/)> [Accessed vztth September, 2019]

*बेबी विश्वकर्मा राजीव गांधी विश्वविद्यालय, अरुणाचल प्रदेश में शोधार्थी हैं।*

# देश गंवाने के अतूक नुस्खे

महेश मिश्र

हाउ टु लूज योर कंट्री: द सेवन स्टैप्स फॉर्म डेमोक्रेसी टु डिक्टेटोरशिप: एजे तेमलकुरन  
पृ.: 272; मूल्य: रु. 828, सजिल्द: रु. 1838; हार्पर कोलिंस, लंदन

ISBN : 100008294046

कवि लियोनिद गुबानोव के शब्दों में, यह पुस्तक उनके लिए है जो कहते हैं, “नहीं है मेरे पास मक्कार झूठ का कोई नर्म सिरहाना!”

तुर्की लेखिका एजे तेमलकुरन की यह पुस्तक तुर्की के विशेष संदर्भ में और कुछ अन्य देशों की तानाशाही प्रवृत्तियों को केंद्र में रखकर लिखी गई है। उनके अध्ययन के विषय हैं, तुर्की, योरोपीय यूनियन, ब्रिटेन, अमेरिका, वेनेज्वेला और रूस। जिन तानाशाही प्रवृत्तियों को उन्होंने इन देशों में लक्षित किया है उनको तेमलकुरन ने दक्षिणपंथी जन सम्मोहन (राइट विंग पॉपुलिज्म) का नाम दिया है, फासिज्म नहीं। पुस्तक में सात अध्याय हैं जिन्हें लेखिका ने लोकतंत्र से तानाशाही तक के सात कदम कहा है।

पहला अध्याय ‘क्रिएट ए मोमेंट’ (अवसर पैदा करो) इस मामले की पड़ताल करता है कि लोगों को फैंटसीज पसंद हैं, लोगों को पसंद है—सबसे बड़ा, सबसे ऊंचा, सबसे महान, अत्यधिक सुंदर! यानी तमाशा खड़ा करने की प्रवृत्ति और सम्मान को राजनीतिक वस्तु बना देने की प्रवृत्ति। लोकप्रिय के इर्द-गिर्द एक ‘वी (हम)’ बनाया जाता है और उसकी जोर-शोर से छवि गढ़ी जाती है, उसे असल वारिस, सच्चा देशभक्त, अपनी परंपराओं को ठीक से मानने वाले के रूप में प्रचारित किया जाता है और इससे जरा-सा भी विचलन ‘अदर (अन्य)’ बनाता है। अन्य अपने को भी वारिस साबित करने के जाल में फंसता है और फंसता चला जाता है। गढ़ा हुआ ‘हम’ अपने को पीड़ित के रूप में पेश करता है। जैसे कि

तुर्की में अरदोयान के समर्थक यह मानते हैं कि तुर्की का सेकुलर उच्चवर्ग धार्मिक लोगों का उत्पीड़न करता है। अमेरिका में ट्रंप के मतदाताओं को लगता है कि उनकी नौकरियां मैक्सिको वाले छीन रहे हैं, योरोपीय यूनियन वालों को शरणार्थी दुश्मन लगते हैं।

दूसरे अध्याय ‘तार्किकता को गड़बड़ा दो’ (डिसेप्ट द रेशनल) में भाषा को, तर्क को कैसे तहस-नहस किया जाता है यह बताया है। पहले राजनीति के भाषिक विमर्श को ‘इनफे’टिलाइज’ किया जाता है यानी बचकानेपन से भर दिया जाता है, फिर जनता में धीरे-धीरे वही सरलीकृत बचकानापन (निर्दोष किस्म का नहीं) भर देना... मूल मानवीय तर्क-प्रणाली को ही उलट-पलट कर रख देता है। इन सरलीकृत बचकानेपन से भरे बयानों की कमी को उजागर करके आलोचकों को लगता है कि वे मानसिक रूप से अधिक स्वस्थ हैं, परिपक्व हैं... पॉप्युलिस्ट लीडर और उसके समर्थक ही मूर्ख हैं। लेकिन इस प्रसरणशील मूर्खता से भला कोई कैसे बच सकता है! समग्र तर्क प्रणाली तो प्रभावित होकर रहेगी, पूरा पब्लिक-स्पेस ही इससे प्रभावित हो जाता है।

तीसरा अध्याय (रिमूव द शेम: इम्मोरलिटी इज ‘हॉट’ इन द पोस्ट-टूथ वर्ल्ड (बेहिया हो जाओ: अनैतिकता पोस्ट-टूथ दुनिया में गरमागर्म माल है) के तहत लेखिका ने दिखाया है कि झूठ कैसे गढ़े जाते हैं। पोस्ट-टूथ का प्रयोजन (मतलब) ही सत्य को सिद्ध बना देना है। जैसे विज्ञान को एक मत-मात्र मान लेना “कि यह अंतिम सत्य नहीं

है।” अज्ञान के घमंड का न सिर्फ प्रदर्शन होता है बल्कि उसको प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। वे किसी वैकल्पिक सत्य की बात करते हैं जो कि संगठित झूठ होता है और उसको वे बेशर्मी की हद तक सामान्यीकृत कर देते हैं।

चौथा अध्याय है डिसेप्टल ज्यूडिशियल एंड पोलिटिकल मैकेनिज्मस (राजनीतिक-न्यायिक प्रक्रियाओं को खड़बड़ा दें) ध्वस्त करने से संबंधित हैं। पूंजी का प्रभाव कैसे राजनीतिक-न्यायिक धमनियों को पंगु कर देता है। केवल ढांचा बचा रहता है, विषय वस्तु गायब होती जाती है। कई उदाहरणों के माध्यम से लेखिका ने इसे स्पष्ट किया है। “आर्दोयान चले जाएंगे तो देश बर्बाद हो जाएगा” की किस्म के मिथक बनाए जाते हैं और बाकायदा उन्हें बढ़ाया जाता है, वैधता प्रदान की जाती है। लोकतंत्र का बनना और बचे रहना, फूलों की सेज नहीं है, यह इस अध्याय में स्पष्ट होता है।

पांचवा अध्याय है ‘डिजाइन योर सिटीजन’ (अपने किस्म के नागरिक बनाओ)। इस अध्याय में आदर्श स्त्री, आदर्श बेटी कैसी होती है, जैसे मिथकों को कैसे गढ़ा जाता है, के बारे में चर्चा है। यह मूलतः नागरिक अधिकार की प्रतिष्ठा के विरोध में होता है लेकिन प्रचारित ऐसे होता है जैसे वही श्रेष्ठ है। वेब सीरीज ‘द हैंडमैड्स टेल’ में जैसी स्त्री गढ़ी जाती दिखती है वैसा ही भिन्न-भिन्न अनुपात में अपने-अपने देश के ‘मानकों’ के हिसाब से इन दक्षिणपंथी जगहों में गढ़ी जाती है। बाकी वंचित तबकों को भी एहसास कराया जाता है कि वे आदर्श ‘हम’ में फिट नहीं होते।

लेखिका छठे अध्याय में तुर्की में विरोध की एक घटना का वर्णन करती हैं। कार्निवलस्क रेसिस्टेंस यानी स्वतःस्फूर्त सामूहिक प्रतिरोध का कार्निवल (नृत्य-संगीत के जुलूस) जैसा दृश्य, जिसमें बनने वाले सहज मानवीय संबंधों और संपर्कों की ऊर्जा और ऊष्मा, उसकी गरिमा को बेहद मोहक अंदाज में प्रस्तुत करती हैं। वहां जो सामूहिक स्वतःस्फूर्त ठहाके होते हैं वे लोगों की आत्मा में बड़ा स्थायी प्रभाव छोड़ते हैं। उन्होंने बाख्यान को उद्धृत करते हुए लिखा है कि जो लोग ऐसे प्रतिरोध के कार्निवल में मिलते हैं केवल वही एक दूसरे इंसान को ठीक से समझ सकते हैं चाहे उनमें सदियों का ही फासला क्यों न हो।

अंतिम अध्याय के मूल में आशावादिता है।

मानव जाति की महत्वाकांक्षा मनुष्य के जीवन काल से बहुत ज्यादा है। हमारा जीवन छोटा है, उद्देश्य बड़ा है... हम बेहतर दुनिया बनाना चाहते हैं। हमें खोजना होगा, तय करना होगा कि हमें व्यक्तिगत रूप से कैसे जीना चाहिए और मानवता का चरित्र और स्वरूप क्या हो। इसका उत्तर कुछ भी हो, यह नहीं हो सकता कि हम कुछ न करें। राजनीतिक निष्क्रियता हमारा विकल्प नहीं हो सकती। हमें आनंद की अपनी अवधारणा को भी पुनर्परिभाषित करना होगा, जिससे उसमें वह समझ शामिल हो सके कि सामूहिक क्रिया का मकसद सिर्फ एक बेहतर दुनिया बनाना नहीं है बल्कि एक परिपूर्ण मनुष्य भी बनाना है। हमें ऐसे एका का निर्माण करना होता जो स्वयंस्फूर्त भी हो।

आमतौर पर हर कृति के एक से अधिक पाठ संभव होते हैं। पर ऐसा पाठकवर्ग जिसकी संवेदनाएं कुंद हैं या जिन में रूप (फॉर्म) और विषय वस्तु (कंटेंट) को एक-दूसरे से गड्ढा-मड्डा करनेकी प्रवृत्ति होती है: चाहे इसे वे अपने प्रशिक्षण की कमी की वजह से करते हों या 'प्रशिक्षण' की वजह से, उनके लिए पुस्तक की विषय-वस्तु अप्रासंगिक हो सकती है, यथार्थ का अति-पाठ लग सकती है। जिन घटनाओं पर सभ्यता को शर्म आनी चाहिए यदि उन पर कोई गर्व कर सकता है, जिन पर आंसू आना चाहिए उन पर वह हंस सकता है, व्यंग्य कर सकता है, अपनी पहचान के लिए शत्रु को परिभाषित करना यदि उसे जरूरी लगता है, भिन्न पहचान को कमतर मानने की प्रवृत्ति है उसमें, तो फिर इस पुस्तक का पाठ उसे प्रभावहीन लग सकता है।

पुस्तक की लेखन शैली में औपन्यासिक सरसता है। एक और मायने में भी अनोखी: जब कथा (फिक्शन) और कथेत्तर (नॉन फिक्शन) आपस में घुल जाते हैं। उसे आप न फिक्शन का नाम दे सकते हैं न ही नॉन-फिक्शन का। व्यक्ति को समझने का, समाज को समझने का, राजनीति को समझने का शायद सबसे प्रामाणिक तरीका भी यही हो!

अरुंधति राँय का *द मिनिस्ट्री ऑफ अटमोस्ट हैपीनेस* फिक्शन में लिखा माना जाता है पर वह उतना ही नॉन-फिक्शन भी लगता है। वह उसमें 'मुख्यधारा' की दुनिया की चर्चा बहुत कम करती हैं। उनकी पुस्तक में सीमांत है, हमारी आपकी दुनिया से पूरी तरह दूर की दुनिया। उनकी कमजोरियाँ हैं, उनकी

मजबूतियाँ हैं, उनकी जिजीविषाएं हैं, उनके आंसू हैं, उनके दीन-हीन प्रतिरोध हैं। राँय की पुस्तक में कथात्मक तत्व ज्यादा है या सच यह पाठक की सूचना, विवेक और संवेदना से तय हो सकता है।

तेमलकुरन की पुस्तक में कथा तत्व नाम-मात्र को है। नॉन-फिक्शन से उसका संलयन हो गया है। फिक्शन शैली को उन्होंने शायद इसलिए अपनाया क्योंकि अखबारी और रिपोर्टिंग स्टाइल का लेखन कई बार समय के वृहत्तर आयामों को पकड़ नहीं पाता है, समय का जो व्यापक फलक है उसको समाज की ऐतिहासिक चेतना ही संदर्भगत कर पाती है। ऐसे लेखन में शब्दों और अवधारणाओं को ऐतिहासिक संदर्भ में रखना पड़ता है और साथ ही वह शुष्क और केवल अकादमिक न रह जाए इसलिए फिक्शन के औजार इस्तेमाल करने पड़ते हैं।

ऐतिहासिक संदर्भ और दैनिक खबर इन दोनों चीजों के विलय करने से और दृष्टि के सही होने से ही एक मुकम्मल रचना सांस ले पाती है। तेमलकुरन की *हाउ टु लूज अ कंट्री* एक मुकम्मल रचना के रूप में सामने आती है। उनके व्यक्तिगत आख्यान, उनकी सामूहिक क्रियाशीलता, तुर्की में आंदोलन में उनकी सक्रियता और कार्निवल जैसे क्षण का उत्तेजक माहौल पकड़ना और उससे इतिहास के व्यापक संदर्भों को जोड़ पाना और फिर निष्कर्ष निकालना पुस्तक को अगले कदमों के लिए एक औजार के रूप में गरिमा और प्रभाव देने वाला है।

दुःखद है कि संकीर्णता की भाषा ज्यादा ग्राह्य होती है, ज्यादा लोगों को ज्यादा लुभाती है। क्योंकि निम्न प्रवृत्तियाँ ज्यादा स्वाभाविक व सहज होती हैं। जबकि समावेशी भाषा तुच्छ प्रवृत्तियों से संवाद नहीं कर पाती इसलिए कम लोग सही तरफ अर्थात् भविष्य की तरफ, प्रगतिशील दिशा में, होते हैं। समावेशी भाषा, भाव और प्रवृत्तियों का विकास न सिर्फ व्यक्ति के प्रयास की अपेक्षा रखता है बल्कि उसके स्वयं के लिए भी अपमार्जक प्रभाव रखता है। जाहिर है यह भाषा उतनी स्वाभाविक नहीं है।

पर यह पुस्तक भाषा, तर्क और संवेदना, तीनों मायनों में एक प्रभावशाली हस्तक्षेप है। कहते हैं कि दुनिया को सुंदर बनाने के अनगिनत तरीके हैं। एक अच्छी पुस्तक लिखना जरूर इस सूची में काफी ऊपर माना

जाएगा। इसे पढ़ना, समझना और सक्रिय होना भी, माना जाना चाहिए कि दुनिया की बची-खुची सुंदरता बचाने का प्रयास होगा।

बातचीत में तेमलकुरन अपने को बहादुर नहीं बल्कि कायर कहती हैं लेकिन अपनी सक्रियता और उस सक्रियता के आयामों से वह आवेश से भरी वैश्विक पुकार साबित होती हैं। यह पुकार क्या है, किसलिए है?

वह चाहती हैं कि दुनिया दक्षिणपंथी विचारों (राइट विंग पॉपुलिज्म) के उभार को समझे, उसके खिलाफ सक्रिय हो। राइट विंग पॉपुलिज्म नाम उन्होंने इसलिए दिया है कि आज के दौर की अधिनायकवादी प्रवृत्ति में विचारधारा बिल्कुल नहीं है, यह पलपल अपने रंग बदलने वाली है। जो कुछ होगा पतनशील ही होगा, किंतु वह कोई ठोस समझा-समझाया रास्ता नहीं पकड़ेगा।

तानाशाही एक दिन में नहीं आती, नहीं तानाशाहों की कोई खास वेशभूषा होगी। वे यह कहते हुए तो बिलकुल भी नहीं आएंगे कि वे तानाशाह हैं!

### अब सवाल है इन्हें कैसे पहचानें ?

उसमें 'दूसरे' (अदरिंग) होंगे, खलनायक गढ़े और बनाए जाएंगे... अपने से अलग जो भी हैं वे खलनायक ही हैं... वे 'उतने' अपने नहीं हैं और इसीलिए दुश्मन हैं।

रहन-सहन, खान-पान, सोच-विचार सब कुछ को एकखास ढांचे में बदलने की कोशिश होगी... और इस सब के बहुत सारे प्रायोजित यशोगायक (चीयरलीडर्स) होंगे... हर नई कोशिश, हर नई घटना न्यू नॉर्मल (नया सामान्य) गढ़ती जाएगी... शब्दों और कर्मों से हिंसा झलकेगी... लोगों को भयभीत रखा जाएगा... पिटने वाले, मर जाने या मार दिए जाने वाले लोग ही अपराधी माने जाएंगे... देश के भीतरसंवेदनशील लोगों को महसूस होने लगेगा कि 'उनका देश ऐसा तो नहीं था'... अगर गलती से ऐसा बोल दिया तो भाड़े के और बिना भाड़े के ट्रोल्स उनका जीना हराम कर देंगे...

हमेशा गौरव पूर्ण अतीत की बात की जाएगी... गर्व हमेशा उनके लिए महत्वपूर्ण होगा, गरिमा नहीं... छद्म दुश्मन उनकी सारी विफलताओं को छुपाने के काम आएंगे... संस्थाओं का अवमूल्यन होगा, वे अपना काम करने के बजाय सत्ता का हित-साधन करेंगी...

अपने आदर्श बदल लेंगी... देश हाथ से वैसे ही खिसकता जाएगा जैसे इ स पुस्तक की तस्वीर के शीर्षक से 'कंट्री' खिसकता दर्शाया गया है!

यह सब इस दिशा में बढ़ क्यों रहा है? लेखिका इसके लिए नवउदारवाद को दोषी मानती हैं। उनके मत में जिन लोगों को नवउदारवादी मूल्यों से कोई आपत्ति नहीं है उनको अपनी तरफ से बताने के लिए कोई ऐसा महत्वपूर्ण तर्क नहीं है जिससे वे मान लें। मनुष्य का मस्तिष्क कुछ ठोस चाहता है, कुछ ऐसा जो उसकी पकड़ में आ सके और जिसके लिए वह जुट सके। प्रतिरोध से जुड़े बहुत सारे लोग कुछ ठोस किस्म का तर्क नहीं दे पाते। 'एक आदर्शनागरिक क्या होगा', एक 'आदर्श देश' कैसा होगा, 'विकल्प क्या है'?

लोग विरोध करते हैं चुटकुलों से, कार्टून से और उसे ही पर्याप्त मान लेते हैं। हंसी उड़ाकर वे अपने को विजेता समझ लेते हैं। पर यह समझ उनके साथ भी ज्यादा समय तक नहीं रहेगी। वे फिर हताश हंसी हंसेंगे। जाहिर है तब वे उसे प्रतिरोध समझने की गलती नहीं करेंगे।

### रास्ता कहां से निकलेगा।

लेखिका के मत में सामूहिक सोच और सामूहिक क्रिया से, सच्चे मायनों में, जीवन सहभागिता और सहकार पर आधारित करने से। वह प्रतिरोध को सहभागी और व्यापक बनाए जाने की जरूरत पर जोर देती हैं। ■

### बैंकके माध्यम से समयांतर का शुल्क भेजें

Samyantar Current a/c

No. 27520200000094

Bank of Baroda, Mayur Vihar  
Ph.-I, Delhi -110091

कृपया रैमिटेन्स की सूचना तत्काल ईमेल अथवा एसएमएस द्वारा ही भेजें।

फोन: 09868302298 (संपादकीय);

09871403843 (व्यवस्था)

email:

samyantar.monthly@gmail.com

समयांतर, 79-ए दिलशाद गार्डन,  
दिल्ली-110095

## साहित्य अकादेमी

# साहित्य और नैतिकता के सवाल

धीरेश सैनी

देश की साहित्य से जुड़ी सबसे बड़ी सरकारी (स्वायत्त) संस्था साहित्य अकादेमी का 'साहित्योत्सव' (24-29 फरवरी 2020) शुरू होने से तीन दिन पहले एक अंग्रेजी अखबार और एक वेबसाइट पर प्रकाशित एक खबर ने हलचल पैदा कर दी। अकादेमी की उप सचिव स्तर की एक महिला अधिकारी को उनका दो साल का प्रोबेशन पीरियड पूरा होने से एक दिन पहले टर्मिनेट कर दिया गया था। पूर्वोत्तर की रहने वाली इस महिला अधिकारी ने अकादेमी के सचिव के खिलाफ शिकायत कर रखी थी कि वह उन्हें नस्लवादी और यौन शोषण के दायरे में आने वाली अभद्र टिप्पणियों और हरकतों से लगातार परेशान कर रहे हैं।

सियासत की राजधानी दिल्ली साहित्य और संस्कृति की भी 'राजधानी' है। फरवरी में खूनी सियासत ने दिल्ली को खूब रुलाया। अफसोस कि साहित्य के हलके से भी दिल्ली के हिस्से में रुसवाइयां ही आईं।

साहित्य अकादेमी की एक महिला अधिकारी को अकादेमी के सचिव के खिलाफ यौन उत्पीड़न की शिकायत करने का खमियाजा प्रोबेशन पीरियड खत्म होने से महज एक दिन पहले टर्मिनेशन के रूप में भुगतना पड़ा। इस मसले पर हिंदी साहित्यकारों की तरफ से विरोध के बीच बुजुर्ग लेखिका मनु भंडारी तारणहार बनकर अकादेमी के उत्सव में जा पहुंचीं। राहत की बात रही कि शाहीन बाग की आंदोलनकारी महिलाओं पर विवादास्पद टिप्पणी को लेकर आलोचना का सामना कर चुके जनवादी लेखक संघ (जलेस) के अध्यक्ष असगर वजाहत ने शुरुआती टालमटोल के बाद स्पष्ट शब्दों में इस उत्सव के बहिष्कार का ऐलान कर दिया और जलेस ने अकादेमी की कारगुजारी पर विरोध दर्ज कराया। हालांकि, प्रासंगिक रहने के लिए अभिशप्त वह पुरातन सवाल बार-बार उभरता रहा कि बुद्धिजीवियों, तुम्हें हुआ क्या है।

देश की साहित्य से जुड़ी सबसे बड़ी सरकारी (स्वायत्त) संस्था साहित्य अकादेमी का 'साहित्योत्सव' (24-29 फरवरी 2020) शुरू होने से तीन दिन पहले

अंग्रेजी अखबार टाइम्स ऑफ इंडिया और वेबसाइट द वायर पर छपी एक खबर ने हलचल पैदा कर दी। अकादेमी की उप सचिव स्तर की एक महिला अधिकारी को उनका दो साल का प्रोबेशन पीरियड पूरा होने से एक दिन पहले टर्मिनेट कर दिया गया था। पूर्वोत्तर की रहने वाली इस महिला अधिकारी ने अकादेमी के सचिव के श्रीनिवास राव के खिलाफ शिकायत कर रखी थी कि राव उन्हें नस्लवादी और यौन शोषण के दायरे में आने वाली अभद्र टिप्पणियों और हरकतों से लगातार परेशान कर रहे हैं। इस महिला अधिकारी की शिकायत साहित्य अकादेमी, और डीएम के यहां से होते हुए दिल्ली हाई कोर्ट में लंबित है।

हाईकोर्ट ने पीड़िता को 16 मार्च तक पेड लीव देने का आदेश भी दिया था। महिला ने शिकायत में के. श्रीनिवास राव की हरकतों का जो ब्यौरा दे रखा है, वह बेहद भयानक और शर्मनाक है। गौरतलब है कि अकादेमी दफ्तर में सचिव की स्थिति ताकतवर बॉस की तरह है। पीड़ित महिला के खिलाफ प्रोबेशन पीरियड के एक दिन पहले अयोग्यता/अक्षमता के नाम पर की गई कार्रवाई से संदेश गया कि महिला अधिकारी को सचिव के. श्रीनिवास राव के खिलाफ शिकायत करने की सजा दी गई है। अकादेमी का चक्कर काटते रहने वाले और दूर रहकर

भी अपनी नाक वहीं घुसेड़े रखने वाले साहित्यकार भी अनजान बने रहते और बात आई-गई हो गई होती, पर शनिवार 22 फरवरी की शाम को हिंदी के वरिष्ठ कवि असद जैदी ने एक अंग्रेजी वेबसाइट में छपी इस खबर को अपनी टिप्पणी के साथ फेसबुक पर शेयर किया तो साहित्यकारों की प्रतिक्रियाएं आनी शुरू हो गईं। असद जैदी ने लिखा, “ विल दिस आउटरेंज मेक द लिटररी कम्युनिटी सिट अप एंड टेक नोटिस ?” साहित्य अकादेमी के बारे में बस यही सुनना बाकी था।

यौन उत्पीड़न और पीड़िता की बरखास्तगी का यह मामला एक राष्ट्रीय संस्थान और उसके सचिव के आचरण ही की बात नहीं है, बल्कि तमाम लेखकों और साहित्यिक बौद्धिकों की परीक्षा की घड़ी है। अकादेमी का सालाना जश्न ‘साहित्योत्सव’ खत्म हो गया है, जिसका भारी भरकम, महंगा, गरिमाहीन, बल्कि नवधनाढ्य किस्म की अश्लीलता से रंगा निमंत्रण पत्र लिए लेखक मंडी हाउस के आसपास नजर आते रहे। यह जश्न भी एक जश्न की तरह मौज में गुजर गया, जैसे कुछ हुआ ही न हो? जैसे हमें क्या? या फिर कहा जाएगा, ‘मामला कुछ जटिल है!’?

वरिष्ठ कवयित्री और एक्टिविस्ट शुभा ने लिखा, “लेखकों को साहित्य अकादेमी का घेराव करना होगा। यह आदमी (के. श्रीनिवास राव) फैसला आने तक सस्पेंड होना चाहिए और असम की उत्पीड़ित ऑफिसर की नौकरी तुरंत बहाल की जाने की जरूरत है। यह शर्मनाक अपराध है। राष्ट्रपति को इस संदर्भ में तुरंत बयान देना चाहिए। यह उनकी जिम्मेदारी है।” मशहूर कवयित्री-एक्टिविस्ट कात्यायनी, वरिष्ठ लेखक पंकज बिष्ट, मोहन श्रोत्रिय, जनवादी लेखक संघ के राष्ट्रीय कोषाध्यक्ष जबरीमल पारख, वरिष्ठ कवि नरेश सक्सेना, विष्णु नागर, मंगलेश डबराल, जन संस्कृति मंच से जुड़े आलोचक आशुतोष कुमार आदि साहित्यकारों ने इस मसले पर नाराजगी का इजहार किया। अगले दिन जनवादी लेखक संघ के महासचिव मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, संयुक्त महासचिव राजेश जोशी व संजीव कुमार की ओर से जारी किए गए बयान में जलेस ने मांग की कि “साहित्य

अकादेमी के सचिव के. श्रीनिवास राव को निलंबित किया जाए और उक्त घटना की जांच उच्च न्यायालय की देखरेख में पूरी हो। जनवादी लेखक संघ 24 फरवरी से शुरू होने वाले साहित्य उत्सव में शामिल होने जा रहे लेखकों का आह्वान करता है कि वे अकादेमी के मंच से इस घटना की निंदा करते हुए सचिव के निलंबन, उक्त महिला कर्मचारी की बहाली और उच्च न्यायालय की देखरेख में घटना की जांच की मांग करें।”

जयपुर में लिट-फेस्ट में व्यस्त प्रगतिशील लेखक संघ को शायद इस बारे में अपना रुख जाहिर करने का समय नहीं मिला।

निराशाजनक यह रहा कि एक महिला के यौन उत्पीड़न से जुड़े मसले पर हिंदी के साहित्यकारों के बीच से विरोध की पहल के बीच हिंदी की ही बुजुर्ग लेखिका मन्नु भंडारी अकादेमी के साहित्योत्सव में पहुंचीं जो अपनी उम्र और स्वास्थ्य का हवाला देकर अमूमन कार्यक्रमों में जाना टालती रही हैं। अकादेमी को हिंदी की दुनिया से ऐसे ही किसी वरिष्ठ चेहरे की हिमायत की जरूरत थी जिसे बतौर इश्तेहार इस्तेमाल किया जा सके। यह बात अलग है कि अकादेमी ने मन्नु भंडारी को जश्न के उद्घाटन के लायक वरिष्ठ साहित्यकार नहीं माना और उन्हें चित्र प्रदर्शनी जैसे किसी इवेंट का उद्घाटन कराकर भेज दिया। साहित्योत्सव का उद्घाटन किया बॉलीवुड गीतकार गुलजार ने।

जनवादी लेखक संघ की दिल्ली इकाई की अध्यक्ष और हिंदी की ‘नारीवादी’ मानी जाने वाली लेखिका मैत्रेयी पुष्पा ने साहित्य अकादेमी और उसके आरोपी सचिव के खिलाफ सीधे कुछ बोलने के बजाय शिकायतकर्ता महिला के लिए खासी नसीहतें दीं। कुछ साहित्यकारों ने गोलमोल बातें कीं और कुछ पहले डरे, बाद में मुखर हुए और कुछ ने चुप्पी ही साधे रखी। अकादेमी का जश्न हुआ, इनाम-इकराम भी बंटे, इतने गंभीर मसले पर जुबां सिले रहे देश के साहित्यकारों ने भाषण वगैरह भी दिए।

महाश्वेता देवी जैसी लेखिका को हराकर गोपीचंद नारंग जैसे विवादास्पद शख्स को साहित्य अकादेमी का अध्यक्ष निर्वाचित कर देने वाले साहित्यकारों से यह अनपेक्षित भी नहीं। यह उत्सुकता जरूर है कि के.

श्रीनिवास राव पर भाजपा सरकार का वरदहस्त उनके सीधे संपर्कों की बदौलत है या नारंग की बदौलत। यह सवाल भी है कि अकादेमी के एक सचिव की कारगुजारी पर बोलने में देश के साहित्यकारों को क्या डर या लालच आड़े आता रहा। मोनिका कुमार ने अपनी फेसबुक वॉल पर लिखा, “साहित्य अकादेमी कोई पावर इंस्टीट्यूशन नहीं जो लोगों को लेखक बना देगा और उन्हें बोलने, लिखने, छपने का मौका देकर लेखक को कृतज्ञ करेगा। उसका अपना एक सीमित रोल है जिसके लिए उसका गठन किया गया था। अगर साहित्य अकादेमी और साहित्य अकादेमी के अधिकारी अपने सहयोगी कर्मचारियों और खासतौर पर स्त्रियों को अपने यौनिक संतोष और शक्ति प्रदर्शन की चीज समझते हैं तो बेहद शर्मनाक है।” शर्मनाक यह है कि मोनिका कुमार जैसी लेखिकाएं भले ही लेखकीय गरिमा पर जोर देती हैं पर साहित्यकारों के बड़े तबके का जमीर पुरस्कारों, प्रकाशन, कमेटियों, आए दिन होने वाले कार्यक्रमों-समारोहों, यात्राओं के फंदों में फड़फड़ाता रहता है। ■

### प्रसार संबंधी समस्या

कृपया पत्रिका न पाने या प्रसार संबंधी अन्य किसी शिकायत के लिए फोन करने की जगह, निम्न मो. नंबरों पर अपना संदेश एसएमएस करें:

09871403843 या

09868302298

साथ में अपना पता और ग्राहक संख्या लिखना न भूलें। फोन से शिकायतों को याद रखना संभव नहीं हो पाता। एसएमएस की गई शिकायतों पर तत्काल और निश्चित तौर पर ध्यान दिया जा सकेगा।

निम्न लिखित ईमेल पतों पर भी संपर्क किया जा सकता है:

email : samyantar@yahoo.com

samyantar.monthly@gmail.com